Text Cross With In The Book Only

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_176466

UNIVERSAL
LIBRARY

होलकर हिन्दी ग्रन्थमाला नं० ३९

नागरिक शास्त्र

(जिसमें नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन है)

लेखकः—

भारतीय-शासन, भारतीय अर्थ-शास्त्र, भारतीय-
राजस्व, भारतीय राष्ट्र निर्म्माण, और
नागरिक शिक्षा आदि पुस्तकों के
रचयिता, तथा
प्रेम महाविद्यालय के भूत-पूर्व नागरिक शास्त्र-शिक्षक
श्रीयुत भगवानदासजी केला

प्रकाशक—

श्री मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर

प्रथम संस्करण } सन् १९३२ ई० { अजिल्द मूल्य १॥)
सजिल्द मूल्य १॥।)

मुद्रक--
श्री मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति प्रिंटिंग प्रेस,
इन्दौर.

विषय-सूची

परिच्छेद	विषय			पृष्ठ
१	सामाजिक जीवन	....	....	१
२	नागरिक-शास्त्र का विषय	....	....	१०
३	राज्य और नागरिक	....	....	२४
४	नागरिकता	....	....	३७

दूसरा खंड—नागरिकों के अधिकार

१	अधिकारों का सामान्य विवेचन	....	५१
२	जान-माल की रक्षा	....	६६
३	शरीर स्वातंत्र्य	....	७५
४	विचार और भाषण-स्वातंत्र्य	....	८०
५	लेखन और प्रकाशन का अधिकार	....	९४
६	सभा करने का अधिकार	....	१००
७	सामाजिक स्वतंत्रता	....	१०९
८	धार्मिक स्वतंत्रता	....	१२३
९	आर्थिक स्वतंत्रता	....	१३४
१०	शिक्षा-प्राप्ति	....	१४६
११	भाषा और लिपि की स्वतंत्रता	....	१६०
१२	मताधिकार	....	१६७
१३	न्याय	....	१८१

परिच्छेद	विषय		पृष्ठ
१४	समानता	....	१८९
१५	शासन अधिकार	....	१९६
१६	अधिकारों की प्राप्ति तथा सदुपयोग	....	२०४

तीसरा खंड—नागरिकों के कर्तव्य

१	कर्तव्यों का साधारण विवेचन	....	२११
२	अपने प्रति कर्तव्य	....	२२०
३	परिवार के प्रति कर्तव्य	....	२२९
४	दूसरों के प्रति कर्तव्य	....	२४०
५	सामाजिक कर्तव्य	....	२४८
६	धार्मिक कर्तव्य	....	२६१
७	ग्राम और नगर के प्रति कर्तव्य	....	२६७
८	राज्य के प्रति कर्तव्य	....	२७२
९	कर्तव्यों का संघर्ष	....	२७९
१०	विश्व बन्धुत्व	....	२८६
११	नागरिक आदर्श	....	२९४

परिशिष्ट

१	कर्तव्याकर्तव्य विचार	....	३०३
२	कर्तव्य सम्बन्धी भारतीय विचार	....	३१८

निवेदन

कोई देश उस समय तक न तो महान राष्ट्र बन सकता है और न अन्य राष्ट्रों में उच्च और अभिमान योग्य स्थान प्राप्त कर सकता है, जब तक उसके निवासी यह न जानलें कि उनके क्या-क्या अधिकार तथा कर्तव्य हैं। किसी राज्य के यथेष्ट उन्नत और विकसित होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके नागरिक या प्रजा-जन नागरिक-शास्त्र के तत्वों को भली-भांति समझें और उनके अनुसार व्यवहार करें। प्रत्येक देश के युवक और युवतियां ही उसके वे नागरिक हैं, जिन पर उसके भविष्य का अच्छा या बुरा होना निर्भर होता है; इसलिये उनके लिए इस विषय का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है।

हमारे विद्यालयों में, भावी नागरिकों को विविध विषय पढ़ाये जाते हैं। उनके मस्तिष्क पर अनेक ऐसी बातों का भी बोझ डाला जाता है, जिनका उनके जीवन से कुछ सम्बन्ध ही नहीं होता। परन्तु आधुनिक शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से, सफल समझे जाने के लिए, यह आवश्यक नहीं है कि वे उन विषयों

पर भी यथेष्ट ध्यान दें, जिनसे उनका जन्मभर सम्बन्ध रहेगा। जिस शिक्षा को पाकर वे सुयोग्य नागरिक बन सकते हैं, स्वदेश तथा विदेशों के लिए, हां मनुष्य जाति के लिए कुछ अभिमान की वस्तु बन सकते हैं, उस शिक्षा के लिए हमारे अनेक विश्वविद्यालयों के शिक्षा-क्रम में गुंजायश नहीं मिलती। हर्ष की बात है कि अब इस ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा है; परन्तु वह बहुत कम है और इस विषय के प्रचार में अभी बहुत बाधायें हैं। विद्यार्थियों के अतिरिक्त, सर्व साधारण की भी अभी ऐसे साहित्य में यथेष्ट रुचि नहीं है। यही कारण है कि हमने नागरिक-शास्त्र के महान और उपयोगी विषय पर यह छोटी सी ही पुस्तक पाठकों के सामने रखकर संतोष किया है। यदि उन्होंने समुचित सहानुभूति दर्शायी तो भविष्य में हम कुछ विशेष सेवा करने के अभिलाषी हैं।

सन् १९२३ ई. में आरम्भ की हुई इस रचना के तैयार होने और छपने में इतना विलम्ब क्यों हुआ, इस कार्य में क्या-क्या बाधायें उपस्थित हुईं, इसका वर्णन करके, हम पाठकों का समय लेना नहीं चाहते। पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों ने गत वर्षों में हमारे नागरिकता सम्बन्धी लेख 'महारथी', 'आज',

'कर्मवीर', 'वीणा', 'अधिकार' आदि में अवलोकन किये होंगे। सन् १९२७ ई. में हमने कुछ विद्वानों से इस विषय पर विचार करने के लिए एक साहित्यिक यात्रा भी की थी। उस अवसर पर हम श्री. डाक्टर बेणीप्रसादजी एम. ए. (प्रयाग विश्वविद्यालय), श्री. बाबूराव विष्णु पराड़कर (सम्पादक 'आज'), श्री. नरेन्द्रदेवजी एम. ए. (काशी विद्यापीठ), श्री. एस. वी. पुन्ताम्बेकर एम. ए. (हिन्दू विश्वविद्यालय), श्री. श्रीप्रकाशजी एम. ए., एल्-एल्. बी. आदि कई ऐसे सज्जनों से मिले जो इस विषय के जानकार हैं। उनसे हमें कई विचारणीय प्रश्नों पर अच्छा परामर्श मिला। श्री. पराड़करजी ने तो बहुत असुविधा होते हुए भी अपना यथेष्ट समय इस कार्य के लिये प्रदान करने की कृपा की। वृन्दावन में प्रेम महाविद्यालय के आचार्य श्री. जुगलकिशोरजी एम. ए. तथा खंडवा में सुहृद्वर विनयमोहन शर्मा बी. ए. से भी हमें इस पुस्तक के कई एक स्थलों पर विचार करने का सुअवसर मिला है। श्री विनयमोहनजी ने इस पुस्तक की विचार-पूर्ण भूमिका भी लिख देने की कृपा की है। उपर्युक्त सब महानुभावों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। जिन पुस्तकों से हमें इस विषय में विशेष सहायता मिली है, उनके नाम अन्यत्र दिये गये हैं। उनके लेखक हमारे हार्दिक धन्यवाद के अधिकारी हैं।

इस पुस्तक में जिन नागरिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, उनमें से विशेषतया अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त उन्नत और विकसित राज्य पद्धति वाले देशों में ही व्यवहृत होते हैं। हम चाहते हैं कि भारतवर्ष में भी उनका यथेष्ट प्रचार हो। इसके लिए आवश्यक है कि भारतीय पाठक इस विषय के साहित्य की ओर समुचित ध्यान दें। आशा है वे इस पुस्तक का वैसा ही स्वागत करेंगे जैसा वे हमारी भारतीय शासन, भारतीय राजस्व और नागरिक शिक्षा आदि का करते आरहे हैं। शुभम्।

भूमिका

नागरिक-शास्त्र, समाज-विज्ञान का विकसित राजनीतिक अंग कहा जा सकता है। समय-प्रवाह से सभ्यता का रूप ज्यों-ज्यों निखरता गया, मनुष्यों की अधिकार-प्यास भी जागृत होती गई। देशकाल के अनुसार इस 'प्यास' में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की अभिप्राप्ति का आकर्षण रहता आया है। प्राचीन भारतीय समाज की नागरिकता का उद्देश्य 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' में निहित था, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तत्कालीन नागरिकों को 'आश्रम-धर्म' पालन करना पड़ता था। समाज परिधि की अभिवृद्धि के साथ-साथ 'नागरिक'-धर्म की संकुचित रेखा मिटती गई और उसकी केवल अपने निकटवर्ती वातावरण को देखने की भावना, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में परिणत होने लगी। अब सभ्यता मानवता के सुख-दुख को सर्वव्यापी बनाने के लिये आतुर हो रही है। एक विद्वान के शब्दों में समाज भौतिक तंतुओं का बना हुआ ढांचा नहीं है; वह एक जीवित शरीर के समान है, जिसके समस्त अंग परस्पर सहानुभूति, सहयोग आदि के कांक्षी होते हैं।

समाज-विकास के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का पर्यालोचन न कर हम यहां समाज द्वारा निर्मित राज्य या 'स्टेट'

(State) पर कुछ शब्द कहेंगे। 'सालमंड' का कथन है कि राज्य या राजनीतिक समाज मनुष्यों का वह संघ है जिसका निर्माण कतिपय उपायों से, कुछ विशेष कार्य साधन के लिये किया जाता है। राज्य की उत्पत्ति या विकास के सम्बन्ध में वुडरो विलसन ने अपनी 'स्टेट' नामक पुस्तक में लिखा है, "आर्य जाति में पहिले परिवार होता था, उसका संचालन पिता द्वारा होता था, जो 'राजा' और 'पुरोहित' का आसन ग्रहण करता था। 'पिता' के जीवन काल में उसके पुत्रों, नातियों आदि का परिवार-संचालन में कोई अधिकार न होता था, हां, वे विवाह और सन्तानोत्पत्ति कर सकते थे। पर उनकी कोई पृथक सत्ता न होती थी। धीरे धीरे 'पिता' की संतति घरों के रूप में बढ़ी, उसके साथ 'पिता' का आधिपत्य-अधिकार भी बढ़ा। क्रमशः घरों की संख्या बढकर 'जाति' (Tribe) में परिणत हुई। तब धर्म आदि कार्यों में प्रत्येक घर का प्रतिनिधित्व होने लगा, और अन्त में 'जातियां' राज्य में परिणत होगई।"

पाश्चात्य कल्पना के अनुसार राज्य के आवश्यक अंग हैं—(१) भूमि (Territory), (२) जनता, (३) एकता और (४) संगठन। हमारे यहां (हिन्दू शास्त्रों में) राज्य के सात अंग माने गये हैं, वे हैं (१) स्वामी, (२) आमात्य, (३) कोष, (४) दुर्ग, (५) राष्ट्र, (६) बल और (७) मित्र। ये सात अंग उपर्युक्त चार में सम्मिलित किये

जा सकते हैं। राज्य अपने इन अंगों द्वारा राष्ट्र या राष्ट्र-समूहों की अभ्युन्नति करता है। उसका मुख्य कार्य समाज की बाहरी-भीतरी आपत्ति-रक्षा के लिये युद्ध तथा न्याय करना है।

अब देखना है राज्य-संचालन किस प्रकार होता रहा है? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आरम्भ में एक मनुष्य (पिता) के द्वारा राज्य का संचालन हुआ और वह राजा कहलाया।× जब सदियों तक राजा द्वारा ही राज्य का संचालन होता रहा तो जनता में राजा की व्युत्पत्ति पर भ्रम होने लगा। तरह २ के सिद्धांत चल पड़े। कोई कहने लगा 'राजा' ईश्वर निर्मित है, तो कोई जनता या समाज को इसके लिये उत्तरदायी मानने लगा। हमारे यहां मनु और व्यास महाराज ने भी 'राजा' का पद ईश्वर-निर्मित माना है। पर योरप में हॉब्स, रूसो, लॉक आदि लेखकों ने उसे 'जनता की ही सृष्टि' कहा है भारत वर्ष में भीष्म और कौटिल्य ने भी यही बात कही है। समय समय पर राज्य-संचालन-शक्ति, अर्थात् सरकार में परिवर्तन या संशोधन का क्रम चलता आया है, और प्रत्येक नये

× वैदिक युग के आरम्भ में केवल राजाओं द्वारा ही शासन हुआ करता था। परन्तु वैदिक युग के उपरान्त यह साधारण राज्य-व्यवस्था छोड़ दी गई थी और जैसा कि मेगस्थनीज ने भी परम्परा से चली आई हुई दन्तकथाओं के आधार पर लिखा है, राजा के द्वारा शासन करने की प्रथा तोड़दी गई थी और भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना होगयी थी।

—हिन्दू-राजतन्त्र (जायसवाल)

रूप का नामकरण उसकी नीति एवं क्रिया-कलापों को देख-कर स्थिर किया जाता रहा है। आजकल भिन्न-भिन्न सरकारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—(१) सत्तात्मक और प्रजा-तन्त्रात्मक, (२) 'फिडरल' और 'यूनीटरी' (३) 'पार्लिमेंटरी' और 'प्रेजीडेंशल'।

जो व्यक्ति जिस राज्य में बसता है वह उसका जन्म से या कानून से, 'नागरिक' माना जाता है और नागरिकों के अधिकारों की रूप-रेखा राज्य की संचालनशक्ति—सरकार पर निर्भर है। तथापि आधुनिक युग की विचार-धारा नागरिकों को अत्यधिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में है। यहां 'स्वतन्त्रता' का अर्थ मनमाने कार्य करने देना नहीं है। कोई भी विकसित राज्य. समाज के किसी अंग या अंग-समूह को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को 'अ-दण्डित' नहीं छोड़ सकता।

स्वाधीनता तीन प्रकार की होती है— प्रथम, 'सिविल' जो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से तथा समाज एवं सरकार से सम्बन्ध स्थापित कराती है; दूसरी राजनीतिक स्वाधीनता; जो नागरिक को अपने देश की राजनीतिक व्यव-स्था में भाग लेने का यथेष्ट अधिकार देती है, जैसे मताधिकार केन्द्रीय-शासन का व्यवस्थापिका सभा के प्रति जिम्मेवार होने का अधिकार, नागरिकता के मूल अधिकारों की घोषणा आदि; तीसरी स्वाधीनता का अर्थ राष्ट्र को पर राष्ट्र की अधीनता

से सर्वथा मुक्त कर देना है। नागरिक जीवन की संस्कृति एवं पूर्ण अभ्युन्नति के लिये इस प्रकार की स्वाधीनता अत्यावश्यक है।

हम जब स्वाधीनता की चर्चा कर रहे हैं तब नागरिकों के अधिकारों को ही अपने सम्मुख रख रहे हैं। अधिकारों की प्राप्ति और उनके उपभोग के लिये ही स्वाधीनता की पुकार मचायी जाती है। अधिकार दो प्रकार के होते हैं; नैसर्गिक और कानून-प्राप्त। नैसर्गिक या नैतिक अधिकार बहुत समय तक प्रयुक्त होते-होते लोकाचार के बल पर कानूनी अधिकार भी बन जाते हैं। कानूनी अधिकारों की प्राप्ति या व्यवस्थापिका सभा द्वारा होती है या शासन-विधान द्वारा। परन्तु शासन-विधान का निर्माण बिना आन्दोलन किये नहीं होता। इंग्लैंड की जनता ने अपने राजा जॉन से 'मेगनाकार्टा' नामक अधिकार-पत्र हंसते-खेलते उपलब्ध नहीं किया; उसे उस समय 'राज्य' के सुख की उपेक्षा कर आन्दोलन करना ही पड़ा था।

नागरिक को राज्य द्वारा घोषित नियमों (कानूनों) को सदा-सर्वदा-पालन करना भी आवश्यक नहीं है। उसे नागरिक के नाते सरकार के कार्यों की, उसके अन्तर्निहित उद्देश्यों की पर्यालोचना करने का अधिकार है। "राज्य-शक्ति अधिकारों को उत्पन्न नहीं करती, वह उन पर स्वीकृति की मोहर भर लगाती है।" × परन्तु जो नियम समाज और राज्य

× Grammer of Politics.

के हित के लिये बनाया जाता है, उसका पालन करना नागरिक का धर्म हो जाता है।

× × × ×

श्रीयुत भगवानदासजी केला अपनी साहित्य-सेवा के लिये सुप्रसिद्ध हैं उन्होंने अपने इस 'नागरिक-शास्त्र' -ग्रन्थ में नागरिकता का पूर्ण और सीधी भाषा में विवेचन किया है। पुस्तक में प्रति-पादित विषय सप्रमाण हैं। इस समय जब हम अपने अधि-कारों के वास्ते, 'युद्धं देहि' के लिये उतर पड़े हैं, हिन्दी भाषा में ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी। पुस्तक का विषय यद्यपि शुष्क है, तथापि लेखक ने उसे रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। मध्य-भारत-हिन्दी-साहित्य-समिति इन्दौर ने इस पुस्तक को प्रकाशित कर हिन्दी-साहित्य की एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। अन्त में हम लेखक को नागरिक-शास्त्र जैसे महत्त्व-पूर्ण विषय पर जन साधारण तक के पहुँचने योग्य अच्छी पुस्तक लिखने के उपलक्ष्य में हृदय से बधाई देते हैं। प्रत्येक नागरिक को इस पुस्तक का यथेष्ट आदर करना चाहिये।

'स्वराज्य' कार्यालय
खंडवा
फरवरी सन् १९३२ ई.

विनयमोहन शर्म्मा
बी. ए.

प्रथम खंड

विषय-प्रवेश

पहिला परिच्छेद

सामाजिक जीवन

"धन्य है वह व्यक्ति जो अपनी समस्त शक्ति समाज को पूर्ण करने में लगा कर अपना महान कर्तव्य पालन करता है, और धन्य है वह समाज जो अपने प्रत्येक सदस्य को पूर्ण विकास का अवसर तथा अधिकार प्रदान करता है।"

मनुष्यों के मिलजुल कर रहने की आवश्यकता—

हम लोग समाज में, ग्रामों या नगरों में, रहते हैं। हम जो कार्य करते हैं, उनमें से कुछ का तो सम्बन्ध केवल हम से ही होता है; परन्तु हमारे कितने ही कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध केवल हम से ही न होकर दूसरों से भी होता है। इस प्रकार हमारे जीवन के दो भाग किये जा सकते हैं। वह कुछ अंश में व्यक्तिगत है, तो कुछ अंश में सामाजिक है। हम दूसरों से कुछ सम्बन्ध क्यों रखते हैं, और हां, हम समाज में रहते ही क्यों हैं?

जो लोग आरम्भ से ही समाज में रहते आते हैं, उन्हें उसमें कोई विशेष लाभ जानने की क्षमता नहीं रहती। समाज

की आवश्यकता का यथार्थ अनुभव तभी हो सकता है, जब वे किसी आकस्मिक घटना के कारण, उससे वंचित हो जांय। वास्तव में हम उस दुख की कल्पना भी नहीं कर सकते जो हमें उस दशा में हो, जब हमें अकेला रहना पड़े। पहली बात तो यही है कि यदि हम मिलजुल कर, समाज में, न रहें तो हमें अपना जीवन निर्वाह करना बहुत कठिन हो जाय। हमें भूख-प्यास लगती है, उसे मिटाने के लिये भोजन चाहिये; हमें सर्दी-गर्मी लगती है, उसे निवारण करने के लिये वस्त्र चाहिये, जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने आदि के लिये हमें मकान आदि भी चाहिये। इस प्रकार हमें बहुत-सी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इन्हें पैदा करना या इनका संग्रह करना अथवा तैयार करना अकेले दुकेले आदमी के वश का नहीं। यदि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की सब वस्तुओं को स्वयं अपनी ही शक्ति और योग्यता से प्राप्त करना चाहे तो सम्भव है कि पूर्व इसके कि वह इसमें सफल हो, उसकी ऐहिक लीला ही पूरी हो जाय, उसे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़े। निदान, जीवन संग्राम में एक दूसरे की सहायता, सहयोग और सहानुभूति की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये मनुष्य एक दूसरे के साथ मिलकर रहते हैं।

मनुष्यत्व का विकास—मिलजुल कर रहने से ही मनुष्यों में मनुष्यत्व का विकास होता है, उनका स्वभाव और

गुण मनुष्यों के-से होते हैं; अन्यथा, जंगली हालत में रहने की दशा में वे पशु-पक्षियों का ही अनुकरण करने वाले हो जांय। कारण कि मनुष्य में दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है। वह जैसी संगति में रहता है, जैसा कुछ देखता-सुनता है, वैसा ही व्यवहार करने लगता है। भिन्न भिन्न देशों के निवासियों के रहन-सहन और आचार-व्यवहार के अन्तर का रहस्य यही है। अस्तु, मनुष्य को, वास्तव में, कार्य व्यवहार में, मनुष्य बनने के लिये यह आवश्यक है कि वह मनुष्यों की बस्ती में रहे, जानवरों की बस्ती में न रहे। सैकड़ों ऐसे उदाहरण मिले हैं कि जब किसी बालक को भेड़िया आदि उठा ले गया तो वह जानवरों की सी ही बोली बोलने लगा, यहां तक कि उसकी आकृति भी कुछ न कुछ पशुओं के समान हो गयी। इससे स्पष्ट है कि समाज में रहने से, हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने के अतिरिक्त, हमें मनुष्यों का सा स्वभाव, भाषा, गुण और रहन सहन आदि भी प्राप्त होता है।

परिवार—मनुष्यों में मिल-जुल कर रहने की प्रवृत्ति प्राकृतिक है। उन्हें एक दूसरे के साथ रहने के वास्ते पहला समूह—परिवार—स्वतः ही मिल जाता है; इसका संगठन नहीं करना पड़ता। जन्म लेने के समय से ही प्रत्येक व्यक्ति का अपने माता पिता से सम्बन्ध हो जाता है, और पीछे इनके द्वारा और भी व्यक्तियों से सम्बन्ध बढ़ता जाता है। अन्य

प्राणी तो थोड़े थोड़े समय ही माता की रक्षा में रहकर शीघ्र अकेले रहने लायक हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के बच्चे को तो कई वर्ष तक दूसरों के आश्रय की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य यह सोच सकता है, कि यदि उसकी बाल्यावस्था में उसके माता पिता अथवा अन्य सम्बन्धियों की यथेष्ट सहायता न पाता तो उसका जीवन अत्यन्त कष्टमय, और प्रायः असम्भव हो जाता।

परिवार से हमें नाना प्रकार के सुख मिले हैं, उससे हमारा बड़ा उपकार हुआ है। इसके उपलक्ष्य में हमें भी चाहिये कि हम बड़े होकर अपने माता पिता आदि की समुचित सेवा सुश्रुषा करें, उन्हें वृद्धावस्था या बीमारी आदि में यथा सम्भव कष्ट न होना चाहिये।

ग्राम या नगर—मनुष्यों की आवश्यकतायें इतनी अधिक हैं, कि एक एक परिवार के व्यक्ति अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से नहीं कर सकते। उन्हें दूसरे परिवारों के व्यक्तियों की सहायता की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कुछ परिवारों को इकट्ठा पास में घर बनाकर रहने की आवश्यकता का अनुभव होता है। इससे ग्राम बनने लगते हैं और पीछे ज्यों ज्यों शिल्प और उद्योग आदि की वृद्धि होती जाती है, नगरों का विकास होने लगता है।

सामाजिक प्रवृत्ति—ऊपर के वक्तव्य से यह मालूम हो जाता है कि अपनी विविध (भौतिक) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही मनुष्यों का परस्पर मिलकर रहना जरूरी होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त, और सम्भवतः इससे कहीं अधिक महत्व की बात यह है कि मनुष्यों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे मिलजुल कर रहना चाहते हैं। थोड़ी बहुत देर की बात तो अलग है, पर यदि किसी मनुष्य को एक दो दिन भी एकान्तवास करना पड़े तो प्रायः उसका जी नहीं लगता। सुखी हो या दुखी, प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ रहना चाहता है। उसकी इच्छा होती है कि मेरे सुख दुख में दूसरे भी साथी हों। अकेला आदमी अपने सुख से यथेष्ट आनन्द नहीं पाता, और दुख का समय तो अकेले में काटना बहुत ही कठिन हो जाता है। हम प्रायः चाहते हैं कि अपने अनुभव की बातें, अपने विचार दूसरों पर प्रगट करें और विविध विषयों के सम्बन्ध में दूसरों की बातें सुनें, और हो सके तो उससे लाभ उठावें। विचारवान मनुष्यों को दूसरों की सेवा या सहायता न करने की दशा में अपना जीवन नीरस और अपूर्ण प्रतीत होता है; वे सोचते हैं कि हमारा जीवन केवल हमारे लिये ही न होना चाहिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्यों ने कुछ तो अपनी भौतिक आवश्यकताओं के कारण, और कुछ अपनी स्वाभाविक

प्रकृति से प्रेरित होकर मिल-जुल कर रहना ग्राम और नगर बनाकर रहना आरम्भ किया।

बृहत् समाज—परन्तु क्या मनुष्य का सम्बन्ध अपने गांव या नगर तक ही परिमित रहता है? हम अपने जीवन और रहन-सहन पर तनिक विचार करें। हमारे अनेक भाई-बन्धु दूसरे गांवों और नगरों में रहते हैं। हमारा पेशा करने वाले, तथा जिन लोगों से हमें भिन्न भिन्न प्रकार की सहायता मिलती है, वे बहुधा दूर दूर तक फैले हुए होते हैं। हमारी आवश्यकता की वस्तुएं अनेक स्थानों से आती हैं, और हमें अपनी बनायी हुई चीजें दूर दूर के भागों में बेचनी होती हैं। हमारे तीर्थ-यात्रा के स्थान जगह जगह हैं। इस प्रकार हमारे कार्यों या विचारों का क्षेत्र कुछ थोड़े से ग्रामों में ही परिमित न रहकर बहुत दूर तक फैला हुआ है। वास्तव में वह देश की सीमा को लांघ गया है। संसार के भिन्न भिन्न देशों से हमारा थोड़ा बहुत सम्बन्ध अवश्य है। वहां के मनुष्यों की विचार-धाराओं का प्रभाव हम पर पड़े बिना नहीं रहता। उनके दुर्भिक्ष और सुकाल से हमारे अनेक आर्थिक व्यवहार निश्चित होते हैं।

यदि दूसरे देशों की बात कुछ थोड़े ही आदमी सोचते-विचारते हैं तो इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं कि अपने देश भर से तो लोगों का सम्बन्ध घनिष्ट होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष

न होकर परोक्ष ही क्यों न हो। स्वदेश की उन्नति, अवनति, उसके सुख-दुख का विचार करना सब के लिये आवश्यक है। जन्मभूमि या मातृभूमि का अर्थ अब कोई ग्राम या नगर नहीं रह गया है। जिस देश में जो आदमी रहता आता है वह समस्त भूखंड उसकी जन्मभूमि है और कही जाती है।

सुविधायें और उत्तरदायित्व—

हम पहले बता आये हैं कि परिवार से हमारा कैसा उपकार होता है, तथा हमें भी उसके बदले में कैसा प्रत्युपकार करना चाहिये। सामाजिक क्षेत्र में परिवार एक बहुत छोटा-सा समूह है। इसमें मिलने वाली सुविधायें, और इसके प्रति पालन किया जाने वाला कर्तव्य स्पष्ट है। इन्हें समझना सरल है। तथापि इस प्रकार विचार करने से हम यह जान सकते हैं कि जब समाज में हमारा सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से होता है और हमें उनसे विविध प्रकार की सुविधायें मिलती हैं, तो हमें भी उनके प्रति विविध कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है। ग्राम और नगर निवासियों से—स्वदेश वासियों से—हमें विविध सुविधायें मिलती हैं, उनका हम पर बहुत ऋण है। अतः हमें उसे चुकाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। हमारे अपने ग्राम या नगर आदि के प्रति क्या २ कर्तव्य हैं, यह आगे प्रसंगानुसार बतलाया जायगा। यहां तो केवल इतना ही कहना है कि सामाजिक-जीवन में हमारा जीवन केवल

हमारे ही लिये नहीं है, हमें दूसरों से जो कुछ सुविधायें मिलती हैं उनके प्रति भी कुछ उत्तरदायित्व है।

समाज में नियमों की आवश्यकता—हम इस बात का विचार कर चुके हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह दूसरों के साथ मिलजुल कर रहता है। अब यदि किसी मनुष्य का सम्बन्ध थोड़े से व्यक्तियों से, तथा बहुत निकट का हो तो उसके व्यवहार के लिये नियमादि बनाने की विशेष आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिये एक परिवार के आदमी स्वतः सब कार्य सुचारु रूप से कर लेते हैं। परन्तु ज्यों ज्यों हमारे सम्बन्ध का क्षेत्र बढ़ता जाता है त्यों त्यों हमारे व्यवहार में सरलता कम हो जाती है, पेचीदगी बढ़ जाती है, त्रुटियां होने की सम्भावना अधिक हो जाती है।

इसका एक कारण यह भी है कि मनुष्यों में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण होते हैं; उनमें प्रायः स्वार्थ की मात्रा होती है। उदाहरणवत् प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसे कम से कम कष्ट उठाना पड़े और अधिक से अधिक लाभ उठा सके। वह दूसरों की असुविधाओं का विचार कम करता है, वह उनके पदार्थों से भी अपना मतलब पूरा करना चाहता है। यदि समाज में मनुष्यों की ढीली प्रवृत्ति को बेरोक टोक रहने दिया जाय, इस पर कोई नियंत्रण या बन्धन न रहे,

जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति रहे तो परस्पर कैसा घोर संघर्ष हो। समाज का जीवन ही संकटमय हो जाय।

इसलिये यह आवश्यक है कि समाज में रहने वाले मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार की सुगमता के लिये, कुछ नियम बनाये जांय, जिनका यथेष्ट ध्यान रखे जाने से सब को सामुहिक रूप से—लाभ हो, सामाजिक जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो। इन नियमों का उद्देश्य यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वत्वों का समुचित उपभोग करे, परन्तु कोई दूसरों के, उनके स्वत्व भोगने में बाधक न हो। समाज का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों की उन्नति में भी सहायक हो, जिससे समस्त समाज की यथेष्ट रक्षा और वृद्धि होती रहे।

ये नियम समाज शास्त्र के विषय होते हैं। अर्थ शास्त्र; राजनीति शास्त्र, इतिहास और हां, नागरिक शास्त्र भी समाज शास्त्र के अन्तर्गत होता है। ऐसी विद्याओं का आधार यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यदि मनुष्य समाज में न रहे तो इन शास्त्रों का अस्तित्व न हो। अगले परिच्छेद में हम इस बात का विशेष रूप से विचार करेंगे कि नागरिक शास्त्र किसे कहते हैं, उसका क्षेत्र क्या है, उसमें किन किन बातों का विवेचन होता है।

दूसरा परिच्छेद

नागरिक-शास्त्र का विषय

"राजनीति का काम है, कि वह समाज के लोगों की जीवन-ज्योति बुझने न दे और उसे सदैव उन्नति की ओर अग्रसर करे। .... कोई कानून कानून नहीं है जो प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हो और मनुष्यों के नैसर्गिक अधिकारों में बाधा उपस्थित करे।"

—राधा मोहन गोकुलजी

नागरिक—नागरिक-शास्त्र के विषय को समझने के लिये, पहिले हमें यह जान लेना चाहिये कि 'नागरिक' किसे कहते हैं और यहां किस अर्थ में उसका प्रयोग किया गया है। नागरिक शब्द का साधारण अर्थ 'नगर का निवासी' है। परन्तु शास्त्र की दृष्टि से ग्राम-निवासी और नगर-निवासी में कोई भेद नहीं माना जाता, और न जाति बिरादरी या धर्म और सम्प्रदाय आदि के भेद से ही लोगों के नागरिक होने में कोई अन्तर उपस्थित होता है। तथापि यह आवश्यक नहीं है कि किसी राज्य के सब ही आदमी उसके नागरिक माने जांय।

राजनीतिक भाषा में इस शब्द का प्रयोग उसके केवल उन ही व्यक्तियों के लिए होता है जिन्हें वहां वे अधिकार प्राप्त हों, जिन्हें 'नागरिक अधिकार' कहा जाता है। नागरिक अपने राज्य के सदस्य होते हैं, वे कुछ कर्तव्यों द्वारा उससे सम्बद्ध होते हैं, उनसे उस राज्य का संगठन होता है।

भारतवर्ष में रहने वाले सब पुरुष और स्त्रियां भारतीय नागरिक हैं। इसमें ऊँच-नीच, जाति-पांति, या छूत-अछूत का कोई विचार नहीं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य या शूद्र का, शिया सुन्नी, मुसलमान का, तथा रोमन केथलिक या प्रोटेस्टेंट ईसाई का कोई भेद भाव नहीं। यही क्यों, योरपियन या अमरीकन आदि भी, अपनी जन्मभूमि त्याग कर इस देश में बस जाने पर 'भारतीय नागरिक' हो सकते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के अधिवासियों को, अपनी जन्मभूमि का त्याग न करने पर भी यहां नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं; इसका कारण यह है कि भारतवर्ष इस समय ब्रिटिश साम्राज्य का अंग है।

अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जायगा; यहां उनके उदाहरण स्वरूप यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि नागरिकों को, निर्धारित योग्यता होने पर, अपने राज्य के शासन प्रबन्ध में, मत देने का तथा विविध राजनीतिक पदों को प्राप्त करने आदि का अधिकार रहता है। उसे स्वदेश में अपनी रक्षा तथा उन्नति के साधन प्राप्त होते

हैं; इसके अतिरिक्त विदेशों में उसकी जान-माल की रक्षा का दायित्व उसके राज्य पर होता है। इस प्रकार उसे ऐसे बहुमूल्य अधिकार रहते हैं, जो वहां के नागरिक न होने वाले व्यक्तियों को बड़ी कठिनाई से, बहुत प्रयत्नों के करने पर ही मिलते हैं, अथवा मिल ही नहीं सकते। निस्सन्देह ये बातें विशेषतया स्वाधीन, वैध राजतंत्र या प्रजातंत्र वाले राज्यों में ही होती हैं; अनियंत्रित राजतंत्र वाले राज्यों में नहीं होतीं।

अस्तु, इन अधिकारों के प्रति फल-स्वरूप प्रत्येक नागरिक का अपने राज्य (तथा समाज) के प्रति कुछ उत्तरदायित्व होता है। उसे राज्य के नियम पालने, कर (टैक्स) देने, और आवश्यकता होने पर सैनिक सेवा करने आदि के कुछ कर्तव्य भी पालन करने होते हैं। जब कोई नागरिक अपने कर्तव्य पालन में त्रुटि करता है तो उसे अपने राज्य के प्रचलित नियमों के अनुसार दंड मिलता है और दंड पा चुकने की अवधि तक वह अपने थोड़े या बहुत अधिकारों से वंचित रहता है।

नागरिक और प्रजा—कहीं-कहीं, प्रायः एक सत्तात्मक शासन पद्धति वाले या पराधीन देशों में 'नागरिकों' को 'प्रजा' कहा जाता है। साधारण बोलचाल में यह शब्द कुछ अधीनता का सूचक माना जाता है। 'प्रजा' कहने से ऐसे आदमियों

से अभिप्राय होता है जो राज्य के नियमों के अधीन तो हों, परन्तु जिन्हें शासन-सम्बन्धी अधिकार न हों, अर्थात् जो नागरिक न हों। तथापि वैध (Constitutional) शासन पद्धति वाले स्वाधीन राज्यों में नागरिकों को प्रजा कहे जाने से उनके अधिकारों में कुछ न्यूनता नहीं समझी जाती। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड के निवासी वहां की प्रजा कहलाते हुए भी, नागरिक अधिकारों के वैसे ही अधिकारी हैं, जैसे अमरीका के संयुक्त राज्यों के निवासी, जो कि वहां के 'नागरिक' कहे जाते हैं। परन्तु जिन राज्यों में अनियंत्रित या स्वेच्छाचारी शासन-पद्धति प्रचलित है, अथवा जो देश पराधीन हैं, उनमें प्रजा के वैध अधिकार बहुत कम होते हैं।

इस प्रसंग में संक्षेप में यह भी जान लेना उपयोगी होगा कि हिन्दी-साहित्य में 'नागरिक' और 'प्रजा' शब्द का क्या अभिप्राय है। प्राचीन साहित्य में 'नागर', 'नागरिक' शब्द का उपयोग चतुर या धूर्त आदि अर्थ में हुआ है, चाहे वह व्यक्ति ग्राम में रहने वाला हो, या नगर में। बहुधा राजा लोग नगरों में रहते हैं और उनके पास अन्य राज्य-कार्य करने वाले होते हैं, तथा कुछ विद्वान आदि राजा के आश्रित होते हैं; बहुत से कार्यालयों, विभागों या संस्थाओं का केन्द्र भी वहां ही हो जाता है, इसलिए उनसे सम्पर्क रखने वाले नगर-निवासियों में बुद्धि और चातुर्य अधिक हो जाना स्वाभाविक है,

उनमें अधिकार-ज्ञान, होशियारी, चालाकी आदि गुण, ग्राम-वासियों की अपेक्षा अधिक होजाते हैं। कुछ आदमी अपने ज्ञान और चातुर्य का दुरुपयोग भी करते पाये जाते हैं, सम्भवतः इसीलिए हमारे प्राचीन साहित्य में 'नागरिक' शब्द धूर्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा। अस्तु, क्रमशः 'नागरिक' शब्द से नगर निवासियों का बोध होने लगा। निदान, साहित्य की दृष्टि से भी इस शब्द में ज्ञानवान होने, अपने अधिकारों को जानने, और उनकी रक्षा करने आदि के भाव का समावेश है।

'प्रजा' शब्द का अर्थ साहित्य की दृष्टि से बाल-बच्चों का है। बाल-बच्चों का काम बड़ों की आज्ञा में रहने का है। उनका कर्तव्य है कि वे समुचित नियमों का पालन करें। उनके अधिकारों का प्रश्न विशेष रूप से उपस्थित नहीं होता, उनके माता-पिता आदि का कार्य है कि वे उनके सुख स्वास्थ्य आदि का समुचित ध्यान रखें। प्राचीन भारतीय संस्कृति में राजनीतिक दृष्टि से 'प्रजा' के इस अर्थ की रक्षा की गयी है। राजा का धर्म है कि वह प्रजा को प्रसन्न रखे, हर प्रकार के कष्ट उठाकर उसका पुत्र की तरह पालन-पोषण करे। यदि वह ऐसा न करे, तो वह राजा कहलाने योग्य नहीं, और प्रजा को उसकी आज्ञा में रहने की आवश्यकता नहीं। अस्तु, साहित्य की दृष्टि से 'प्रजा' शब्द में विशेष भाव कर्तव्य पालन का है;

अधिकारों का विचार इसमें गौण है। आधुनिक राजनीति में भी इस शब्द के अर्थ में कुछ ऐसा ही आभास मिलता है।

नागरिक शास्त्र—नागरिकों के नागरिक जीवन का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत तथा सामुहिक उन्नति करना है। इसके लिए उन्हें राज्य में क्या क्या और कहां तक अधिकार होने चाहिएँ, तथा उनका एक-दूसरे के प्रति, राज्य के प्रति क्या क्या कर्तव्य है, इस विषय का विवेचन करने वाला शास्त्र 'नागरिक शास्त्र' कहलाता है। इस शास्त्र में विशेषतया राजनीतिक दृष्टि से विचार किया जाता है। यह बतलाता है कि नागरिक जीवन किस प्रकार उत्तम हो सकता है, उसके लिए नागरिकों को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आदि क्षेत्रों में क्या क्या कार्य करना चाहिये, और उनके विविध कार्यों में कहां तक ऐसा नियंत्रण रहना चाहिए कि जिससे एक-दूसरे के उचित स्वार्थों में बाधा न हो; जिससे सब के विकास में अधिक से अधिक सुविधा मिल सके। इस शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य अपने राज्य की, और अप्रत्यक्ष रूप से संसार की सुख-शांति बढ़ाने में सहायक होता है।

नागरिक-शास्त्र और अन्य सामाजिक विद्यायें (क)

अर्थशास्त्र—पहले कहा जा चुका है कि नागरिक-शास्त्र की भांति अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि समाज-शास्त्र के अंग

हैं। नागरिक-शास्त्र का इन सामाजिक विद्याओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। एक प्रकार से वे शास्त्र इसके सहायक हैं। वे भिन्न भिन्न विषयों की खोज करते हैं और उस खोज के परिणाम स्वरूप कुछ नियम या सिद्धान्त स्थिर करते हैं। नागरिक शास्त्र में उन सिद्धान्तों का उपयोग होता है। इस सहायता से नागरिकों के लिये उन विद्याओं की उपयोगिता और अधिक हो जाती है।

उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र धन सम्बन्धी ज्ञान की खोज करता है। वह यह बतलाता है कि धन की उत्पत्ति, उसके उपभोग, विनिमय और वितरण के क्या सिद्धान्त हैं। नागरिक-शास्त्र से ज्ञात होता है कि धनोत्पत्ति आदि में मनुष्यों का परस्पर कैसा व्यवहार होना चाहिये। उदाहरणार्थ पूंजीपति अपने कारखानों में कोई ऐसा नियम या प्रबन्ध तो नहीं प्रचलित करते कि जिससे श्रम-जीवियों को अपने नागरिक अधिकारों के उपभोग में बाधा उपस्थित हो। अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह है कि समाज के भौतिक अभावों को दूर करके मनुष्यों की सुख-सम्पत्ति की वृद्धि करे। उसका यह उद्देश्य तभी यथेष्ट रूप से सफल हो सकता है जब धनोत्पत्ति आदि में नागरिक-शास्त्र के नियमों का समुचित ध्यान रखा जाय।

(ख) राजनीति शास्त्र—नागरिक-शास्त्र राजनीति शास्त्र का तो एक अंग ही है। इन दोनों शास्त्रों का इतना घनिष्ट

सम्बन्ध है कि इन्हें पूर्ण रूप से पृथक् करना असम्भव सा है। राजनीति-शास्त्र राज्य के मूल, उसकी उत्पत्ति, उसके विविध स्वरूप, तथा उसके विकास और शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों आदि के विषय में विविध दृष्टियों से विचार करता है, नागरिक-शास्त्र का मुख्य विषय नागरिक है, परन्तु इसे गौण रूप से राज्य के सम्बन्ध में भी विचार करना ही होता है, क्योंकि किसी समूह के व्यक्तियों को नागरिक होने के लिये राज्य का निर्माण होना आवश्यक है। यदि राज्य में उसके नागरिकों को अधिकारों की सम्यग् रक्षा हो, तथा नागरिक अपना कर्तव्य ठीक ठीक पालन करने वाले हों, तो वहां की शासन-पद्धति का स्वरूप चाहे जैसा हो, उससे विशेष हानि नहीं पहुँचेगी। वरन् यह कहा जा सकता है कि किसी देश की प्रचलित शासन-पद्धति की उपयोगिता जांचने के लिये एक कसौटी यही है कि वहां नागरिक शास्त्र के नियमों का व्यवहार कहां तक होता है।

(ग) **इतिहास**—इतिहास को हम मनुष्य समाज के विविध प्रकार के कार्यों और अनुभवों का क्रमबद्ध विवेचन कह सकते हैं। उसके अनुशीलन से ही पाश्चात्य विद्वानों ने नागरिक-शास्त्र के पुराने नियम मालूम किये हैं, और इसकी बहुत-सी त्रुटियों का संशोधन किया है। नागरिक शास्त्र के नियमों का आधार मनुष्य जाति का अनुभव है, ज्यों ज्यों

इतिहास वर्णित अधिकाधिक विचारों और अनुभवों का ज्ञान होता है, इस शास्त्र के नियमों पर नया प्रकाश पड़ता है, और उनके परिवर्तन और संशोधन में सहायता मिलती है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र का इतिहास से कितना सम्बन्ध है यह स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में नागरिक-शास्त्र की उत्पत्ति और विकास में इतिहास से बड़ी सहायता मिली है।

इसी तरह, नागरिक-शास्त्र और अन्य सामाजिक विद्याओं का कैसा सम्बन्ध है, यह विचार किया जा सकता है। अब हम इसकी भौतिक विद्याओं से कुछ तुलना करेंगे।

नागरिक-शास्त्र और भौतिक विद्यायें—ऊपर के वक्तव्य से यह भली भांति ज्ञात हो जाता है, कि नागरिक-शास्त्र ने अभी पूर्णता प्राप्त नहीं की है। इसके इस समय के प्रचलित सिद्धान्तों में कालान्तर में भूल मालूम हो सकती है, वे सिद्धान्त अपने संशोधन के लिये समाज के नये नये अनुभवों की प्रतीक्षा में रहते हैं। इसके विपरीत भौतिक विद्याओं के बहुत से सिद्धान्त मूल रूप में बहुत कुछ स्थिर रहते हैं। उन पर समाज के विकास या उत्थान पतन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

नागरिक-शास्त्र के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इसके जो नियम प्राचीन काल में ठीक माने जाते थे उनमें से कितने ही अब रद्द हो चुके हैं, तथा जो नियम इस समय प्रचलित

हैं, उनके सम्बन्ध में न मालूम कब कैसे संशोधन की आवश्यकता हो।

प्रयोग सम्बन्धी असुविधायें—रसायन-शास्त्र आदि कुछ भौतिक विद्यायें प्रयोगात्मक हैं; अर्थात् उनके इच्छानुसार प्रयोग किये जा सकते हैं। उनके नियमों की परीक्षा अल्पकाल में और सहज ही हो सकती है। उन विषयों का विद्यार्थी उनके सम्बन्ध में जांच करने के लिये भिन्न भिन्न परिस्थितियां पैदा करके उनके परिणाम जान सकता है। उदाहरणार्थ वह यह मालूम कर सकता है कि अमुक पदार्थों के सम्मिश्रण से कौनसी वस्तु तैयार होगी, उसका रंग रूप कैसा होगा, अथवा किसी वस्तु पर गर्मी, सर्दी, हवा, पानी, प्रकाश या अंधकार आदि का क्या प्रभाव पड़ेगा। परन्तु नागरिक-शास्त्र के जिज्ञासुओं को परीक्षण की ऐसी सुविधायें नहीं होतीं। वे यथेष्ट परिस्थितियां पैदा नहीं कर सकते। उन्हें दीर्घकालीन इतिहास का अध्ययन करके ही कुछ अनुमान करना पड़ता है, क्रमशः इस अनुमान की जांच होती है और नियम निश्चित किये जाते हैं। कालान्तर में नये नये अनुभवों के अनुसार, इन नियमों में परिवर्तन, परिवर्धन या संशोधन होता रहता है।

नागरिक-शास्त्र के नियमों का व्यवहार—नागरिक-शास्त्र भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् रुचि या स्वभाव आदि का विचार न कर उनकी सामुहिक सुख-शान्ति का लक्ष्य रखता है। अतः यह सर्वथा सम्भव है कि इसके

सिद्धान्त सब को समान रूप से रुचिकर न हों, परन्तु दूसरों के, और उनके साथ अपने भी, हित का ध्यान रख कर सब को उनका यथाशक्ति पालन करना चाहिये ।

नागरिक-शास्त्र का आधार मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार हैं । इन व्यवहारों में देश के प्राकृतिक, आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक आदि परिवर्तन के कारण अन्तर पड़ता रहता है । इसलिये नागरिक-शास्त्र के सिद्धान्तों के व्यवहार में समय समय पर भेद उपस्थित होता रहता है । उदाहरणवत् धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी जो विचार अब उन्नत राज्यों के निवासी मान्य समझते हैं, वे कुछ समय पहिले मान्य न थे । पुनः जिस प्रकार एक देश की स्थिति सब कालों में समान नहीं होती, उसी प्रकार सब देशों की स्थिति भी किसी एक समय में सर्वथा समान होना आवश्यक नहीं है । इसलिए प्रत्येक देश के लिये, उसकी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार नागरिक-शास्त्र के नियमों के व्यवहार में कुछ भिन्नता होनी स्वाभाविक है ।

इस विषय के अध्ययन की आवश्यकता—पुरुष या स्त्री, धनवान या निर्धन, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने कर्तव्यों और अधिकारों की ओर समुचित ध्यान देते हुए सुयोग्य नागरिक बनने का यत्न करे, और देश की उन्नति और रक्षा में यथेष्ट भाग लेते हुए उसकी सुयोग्य सन्तान

कहलाने का अधिकारी हो। यह तभी हो सकता है, जब वह नागरिक-शास्त्र के विषय का भली भांति अध्ययन करे और अपने व्यवहार में इसकी शिक्षा को चरितार्थ करे।

इस विषय के अध्ययन की आवश्यकता इसलिए भी है कि यदि कोई हमारे अधिकारों का अपहरण करने लगे तो इसके अध्ययन से हम उनके सम्बन्ध में यथेष्ट ज्ञान रखते हुए उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं, और इस प्रकार अपने उत्तराधिकारियों के लिये नागरिक अधिकारों की बहुमूल्य सम्पत्ति सुरक्षित छोड़ सकते हैं।

नागरिक शास्त्र, शिक्षा का एक आवश्यक अंग है— वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य कुछ लिखना पढ़ना जान लेना, या आजीविका प्राप्त करने के योग्य बन जाना ही नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य है, नागरिकों की विविध शक्तियों का समुचित विकास और मनुष्यत्व की यथा-सम्भव पूर्णता की प्राप्ति। शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों को अन्यान्य बातों में यह सिखाया जाना चाहिये कि व्यक्तिगत, सामाजिक, या राजनीतिक आदि ऐसे कौन कौन से कर्तव्य हैं जिनका उन्हें अपने मनुष्य-जीवन में पालन करना है, और कौन कौन से अधिकार हैं जिनका वे सम्यग् रूप से उपभोग कर सकेंगे; अर्थात् संक्षेप में वे किस प्रकार आदर्श नागरिक बनकर अपने देश, अपने राज्य, और किसी अंश में संसार की अधिक से अधिक सेवा कर सकते हैं। जब शिक्षा का उद्देश्य यह है, तो कर्तव्य और अधिकारों

का ज्ञान कराने वाली विद्या—नागरिक शास्त्र—का उस शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना स्पष्ट ही है। निस्संदेह नागरिक-शास्त्र के ज्ञान के विना सब शिक्षा अधूरी या अपूर्ण है।

इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व तनिक इस बात का भी विचार करलें कि भारतवर्ष में इस शास्त्र की ओर कैसी प्रवृत्ति रही है।

भारतवर्ष में नागरिक-शास्त्र—भारतवर्ष की संस्कृति तथा परिस्थिति कुछ विशेष प्रकार की होने के कारण, यहां व्यक्तियों के कर्तव्यों और अधिकारों पर, वैसा शास्त्रीय विचार अब तक नहीं हुआ जैसा कि होना चाहिये था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यहां व्यक्तियों के कोई कर्तव्य या अधिकार समझे ही न जाते हों। प्राचीन स्मृतियों और पुराणों में मनुष्यों के कर्तव्यों का उल्लेख स्थान स्थान पर मिलता है। उन ग्रन्थों में यह भी बतलाया गया है कि कर्तव्य पालन न करने वालों को, अथवा दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने वालों को क्या दंड दिया जाय। हां, हमारे प्राचीन साहित्य में कर्तव्य और अधिकारों के सम्बन्ध में सुसम्बद्ध शास्त्र का प्रायः अभाव ही है। अब परिस्थिति ऐसी है कि इस विषय को अच्छी तरह समझे विना कोई आदमी अपने प्रति अथवा अपने राज्य के प्रति यथेष्ट कर्तव्यों का पालन तथा अपने समुचित अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए इस पर भली भांति विचार और चर्चा होनी अत्यन्त आवश्यक है।

खेद है कि अभी तक भारतवर्ष में न तो इस विषय को विद्यार्थियों के शिक्षा-क्रम में ही यथेष्ट स्थान मिला है, और न देशी भाषाओं में सर्व-साधारण के लिये इस विषय का यथेष्ट साहित्य ही उपलब्ध है। इस समय अन्यान्य बातों में नागरिक विषयों की भी जागृति हो रही है, आशा है यहां इस शास्त्र की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जायगा। शुभम्।

तीसरा परिच्छेद

राज्य और नागरिक

" सब सरकारें समाज के हित के लिए स्थापित की जाती हैं। चाहे किसी तरह की सरकार हो, जो उसका शासन चलाते हैं, उन्हें इस बात को सदैव अपना पथ-प्रदर्शक समझना चाहिए।"

—वॉलमेज़

राज्य-निर्माण—पहले बताया जा चुका है कि अकेले-दुकेले रहने से मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती, साथ ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी उन्हें समूह में रहने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए वे समाज में रहते हैं। सामाजिक-जीवन उसी दशा में सुखमय हो सकता है, जब प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से प्रेम और उदारता-पूर्वक व्यवहार करे, कोई किसी को हानि न पहुँचावे। इस उद्देश्य से कुछ नियम बनाये जाते हैं। इसके साथ ऐसी योजना करने की भी आवश्यकता होती है कि उन नियमों का यथेष्ट पालन होता रहे। ऊँचे विचारों वाले सज्जन पुरुष तो ऐसा स्वयं कर

लेते हैं; परन्तु किसी भी समाज में बहुत समय तक ऐसे ही पुरुषों के होने की आशा नहीं की जा सकती। साधारणतया बलवान् पुरुष दूसरों की वस्तुओं को छीना झपटी करके लेने को उत्सुक रहते हैं। वे निर्बलों को सताते हैं, और उन्हें शांति-पूर्वक जीवन व्यतीत नहीं करने देते। इसलिए ऐसा प्रबन्ध करने की आवश्यकता होती है कि लोगों की स्वार्थ-प्रवृत्ति पर—उनकी कुत्सित भावनाओं पर—समुचित शासन रहे। ऐसी संस्था का संगठन किया जाता है, जो समाज के सब व्यक्तियों से उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए समुचित नियमों का पालन कराये, नियम भंग करने वालों को दंड देकर या उनमें सद्-विचारों का विशेष रूप से प्रचार करके, उनका समुचित सुधार करे। यह संस्था समाज के लिए ऐसे कामों को भी करती है, जिन्हें समाज के व्यक्ति अलग अलग न कर सकें, या बहुत कठिनाई से कर सकें। इस संस्था को सरकार (Government) कहते हैं, इससे सम्बद्ध-समाज राज्य (State) कहलाता है। इस परिच्छेद में हम इस बात का विचार करेंगे कि उसका और नागरिकों का परस्पर में क्या सम्बन्ध है। पहले उसका ठीक स्वरूप समझ लेना चाहिए।

राज्य के आवश्यक अंग—(क)—राज्य का प्रथम आवश्यक अंग जनता है। यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य-निर्माण के लिए मनुष्यों की कम से कम कितनी संख्या होनी चाहिए। प्राचीन तथा मध्य-काल में अनेक नगरों ने एक एक

राज्य का स्वरूप धारण किया हुआ था। उनके निवासियों की संख्या कुछ कुछ हजार ही रही होगी। परन्तु आजकल पारस्परिक युद्धों के भय से, तथा आवागमन के साधन सुलभ होने आदि के कारण राज्यों के बड़े बड़े होने की प्रवृत्ति है। अब कुछ हजार की तो बात ही क्या है, कुछ लाख जन संख्या वाले राज्य भी बहुत कम हैं, और उनका अस्तित्व कुछ विशेष कारणों पर निर्भर है। इस समय अधिकांश राज्यों की जनता कई कई करोड़ है।

(ख)—राज्य के निवासियों का किसी भू-भाग से स्थायी सम्बन्ध रहना आवश्यक है। यदि कोई जन-समूह अपना मुखिया नियत करले और सब निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य करने लगे, परन्तु वे किसी निश्चित स्थान में न रह कर जहां तहां घूमने वाले, अर्थात् 'खाना बदोश' हों, तो उन व्यक्तियों से राज्य का निर्माण हुआ नहीं कहा जा सकता। राज्य के लिए समुद्र का भी यथेष्ट महत्व है, तथा वायुयानों के आविष्कार और वृद्धि के कारण आकाश का भी उपयोग बढ़ता जा रहा है। फिर भी, कोई जन-समूह बहुत समय तक केवल जल-भाग या आकाश में नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक राज्य में उसके निवासियों के रहने के लिए यथेष्ट भूमि होनी चाहिए।

(ग)—राज्य के निवासियों में एकता होना भी आवश्यक है। यदि उनमें परस्पर रक्त-सम्बन्ध है, तथा उनकी भाषा,

धर्म और इतिहास आदि एक ही हैं तो उनका ऐक्य स्वाभाविक तथा विशेष रूप से स्थिर रहने वाला होता है, अन्यथा उनके ऐक्य का आधार कृत्रिम साधनों पर रहेगा । हां, यह सर्वथा सम्भव है कि कृत्रिम साधनों से प्राप्त एकता वाले राज्य में, कालान्तर में, ऐक्य के स्वाभाविक साधनों की वृद्धि होती जाय। अस्तु, यहां उल्लेखनीय बात यह है कि राज्य की जनता में धर्म, भाषा, सभ्यता आदि में चाहे जितना भेदभाव हो, जहां तक राज्य के कार्यों का सम्बन्ध हो, उन्हें मिलकर संगठित रूप से कार्य करना जरूरी है ।

(घ) राज्य में शासन भी होना अनिवार्य है । शासन का स्वरूप भिन्न भिन्न राज्यों में पृथक् पृथक् होता है, परन्तु उसके अभाव में उसका काम नहीं चल सकता । यदि किसी भू-भाग के आदमी संगठित भी हों, परन्तु उनका संगठन धार्मिक या आर्थिक हो तो उनका राज्य बना नहीं कहा जा सकता । *

इस प्रकार राज्य मनुष्यों का राजनीतिक दृष्टि से सुसंगठित विशाल समुदाय है जो किसी विशेष भूमि पर बसा हुआ हो । स्मरण रहे कि वास्तव में राज्य होने के लिये एक देश

---

* कुछ लेखक राज्य में जीवन, सदाचार, और पुरुषत्व (कठोरता या धैर्य आदि) का होना भी मानते हैं, परन्तु ये राज्य के अप्रत्यक्ष गुण हैं ।

का दूसरे देश वालों से सर्वथा स्वाधीन होना आवश्यक है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और यहां पैंतसि करोड़ आदमी रहते हैं। इसे वर्तमान अवस्था में, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए, वास्तव में राज्य नहीं कह सकते। इसके विपरीत जापान और जर्मनी आदि बहुत छोटे छोटे होने पर भी राज्य हैं, क्योंकि वे स्वाधीन हैं।

राज्य स्वयं साध्य है या एक साधन मात्र है? उसका उद्देश्य—राज्य के आवश्यक अंग जान लेने पर अब एक विचारणीय प्रश्न यह सामने आता है कि राज्य स्वयं साध्य है, या वह एक साधन मात्र है और यदि वह साधन है तो उसका उद्देश्य क्या है? प्राचीन काल में यूनान और रोम आदि में राज्य को एक प्रकार से साध्य माना जाता था, जिसके वास्ते व्यक्तियों को अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। राज्य के सम्मुख व्यक्ति कोई वस्तु न था। लोगों को वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रायः कुछ भी नहीं थी। उनके प्रत्येक कार्य में—शिक्षा, आजीविका, धर्म और सदाचार आदि में—राज्य का हस्तक्षेप होता, अर्थात् राज्य नियम ही यह निश्चय कर देते थे कि किसी व्यक्ति को किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये, कौनसा धर्म स्वीकार करना चाहिये, इत्यादि। उस समय वहां के राजनीतिज्ञों का प्रायः यह मत था कि राज्य से पृथक् व्यक्तियों का कोई जीवन नहीं, कोई अधिकार नहीं जिस प्रकार मनुष्य के भिन्न भिन्न अंगों का काम सारे शरीर

की सेवा और उन्नति करना है, उसी प्रकार राज्य के व्यक्तियों को राज्य रूपी शरीर की सेवा और उन्नति में लगे रहना चाहिये, अर्थात् उन्हें अपना अस्तित्व राज्य के विशाल अस्तित्व में मिला देना चाहिये।

अब ऐसे विचारों के समर्थक बहुत कम रह गये हैं। आज कल राज्य को प्रायः स्वयं-साध्य नहीं माना जाता। आधुनिक मत से वह एक साधन मात्र है। इस मत के अनुसार मनुष्य का विकास, उसकी उन्नति, उसकी सुख-समृद्धि मुख्य है, उसकी प्राप्ति के लिये ही राज्य का संगठन होना चाहिये। राज्य का उद्देश्य लोगों के उस स्वेच्छाचार, उद्दंडता और अनुचित स्वार्थों को नियंत्रित करना है, जो उनके सामुहिक जीवन में बाधक होते हैं। निस्सन्देह मनुष्य राज्य का संगठन करके अपनी कुछ स्वतन्त्रता का नियंत्रित किया जाना स्वीकार करते हैं, परन्तु यह नियंत्रण वे इसी लिये स्वीकार करते हैं कि वे वृहद् स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकें, किसी नागरिक के कार्य में दूसरे नागरिकों के स्वार्थ आदि के कारण कुछ बाधायें न हों। यह स्पष्ट है कि राज्य की ओर से होने वाला नियंत्रण कम से कम होना चाहिये, वह केवल उतना ही हो, जितना नागरिकों की सामुहिक उन्नति और विकास के लिये आवश्यक हो; जितने से नागरिकों का सामुहिक जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत हो। राज्य के नियमों से

नागरिकों की शिक्षा धर्म आदि किसी विषय में उस समय तक हस्तक्षेप न होना चाहिये, जहां तक उसका सम्बन्ध नागरिकों के सामुहिक व्यवहार से न होकर उनके व्यक्तिगत जीवन से हो।

राज्य और नागरिक—राज्य के नियमों अर्थात् कानूनों की आवश्यकता या अनावश्यकता, उपयोगिता और अनुपयोगिता की जांच करने के लिये एक मात्र कसौटी सार्वजनिक हित है। जिन कानूनों से नागरिकों के सामुहिक हित में वाधा पड़ने की सम्भावना या आशंका हो, उसके विषय में नागरिक यथेष्ट परिवर्तन, परिवर्द्धन या संशोधन उपस्थित कर सकते हैं, अथवा यदि आवश्यकता हो तो उसे सर्वथा रद्द भी कर सकते हैं। इसी प्रकार जब उन्हें यह मालूम हो जाय कि राज्य का तत्कालीन स्वरूप अपने उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं कर रहा है, अर्थात् उसके द्वारा नागरिकों का यथेष्ट विकास और उन्नति नहीं हो रही है तो वे राज्य के उस स्वरूप को बदल कर नयी तरह के राज्य की स्थापना कर सकते हैं। आज कल अच्छे नागरिक से ऐसे ही व्यक्ति का बोध नहीं होता जो राज्य का सदस्य हो और उसका कानून मानने वाला हो वरन् ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो अपने तईं राज्य का एक अंग अनुभव करता हो। अर्थात् अच्छा नागरिक होने के लिये उसे इस बात की निरन्तर स्मृति बनी रहनी चाहिये कि मैं भी इस राज्य का बनाने वाला हूं। यह

राज्य अच्छा या बुरा जैसा भी है उसके यश अयश का मैं भागीदार हूं। जहां मैं चाहता हूं कि राज्य मेरे सामाजिक या राजनैतिक जीवन को अच्छा से अच्छा होने में सहायक हो, वहां मेरा भी यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं राज्य के कानूनों और उसके स्वरूप को अच्छे से अच्छा बनाऊं, मैं राज्य के सुधार और उन्नति के लिये भरसक प्रयत्न करूं। जब तक नागरिकों में राज्य के प्रति ऐसी भावना न हो, वे अपने 'नागरिक' पद के उत्तरदायित्व को यथेष्ट रूप से समझते हुए नहीं कहे जा सकते।

राज्य और नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह जानने के लिए सरकार और उसके कार्यों के विषय में कुछ आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेना उपयोगी होगा।

सरकार के कार्य—(१)—सरकार नागरिकों की सुख-शांति तथा उन्नति के लिए कानून बनाती है, इसे व्यवस्था कहते हैं। (२) जो कानून बनाये जाते हैं, सरकार उन्हें अमल में लाती है और उनके अनुसार सेना, पुलिस, जेल, डाक, तार, रेल आदि का, तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार और उद्योग आदि के लिए विविध प्रकार की संस्थाओं का संचालन या प्रबन्ध करती है; इसे शासन-कार्य कहते हैं। (३) सरकार लोगों के कानूनी अधिकारों की रक्षा करती है, और कानून तोड़ने वालों को दंड देती है। यह कार्य न्याय के अन्तर्गत है। इस प्रकार

सरकार के तीन कार्य होते हैं—व्यवस्था, शासन और न्याय। कहीं कहीं तो इन कार्यों के लिए तीन भिन्न भिन्न भाग होते हैं और कहीं इनमें से दो या तीनों कार्य एक ही प्रकार के अधिकारियों के सुपुर्द होते हैं।

व्यवस्था और प्रतिनिधि-निर्वाचन—जब राज्य छोटे २ होते थे, अथवा नागरिकता के अधिकारी बहुत थोड़े आदमी माने जाते थे तो राज्य के सब बालिग आदमी व्यवस्था कार्य के लिए सहज ही इकट्ठे हो सकते थे। परन्तु राज्य का क्षेत्र अथवा नागरिकों की संख्या बहुत बढ़ जाने पर ऐसा होना कठिन; और कुछ दशा में असम्भव होता है। इसलिए यह सोचा गया कि नागरिक अपने अपने प्रतिनिधि चुनकर व्यवस्थापक सभाओं का निर्माण करें, और इन सभाओं में नागरिकों के विविध हितों तथा स्वार्थों के प्रतिनिधि हों।

इस सम्बन्ध में आवश्यक है कि जितने क्षेत्र के निवासियों से किसी व्यवस्था का सम्बन्ध हो, उतने ही क्षेत्र के निवासियों के प्रतिनिधि उसमें योग दें, और टेक्स आदि लगाने; (हां यदि आवश्यकता हो, तो बाहर के आदमियों से परामर्श लेलिया जाय।)* देश सम्बन्धी व्यवस्था में देश भर के प्रतिनिधि

---

* यह बात वैध-शासन-पद्धति वाले देशों में ही घटती है। अनियंत्रित शासन पद्धति वाले देशों में यह बात नहीं होती। पराधीन देशों में शासक जाति के आदमी भी अनायास नागरिकों के अधिकार पाकर न केवल व्यवस्था में भाग लेते हैं, वरन् प्रायः 'सर्वेसर्वा' हो जाते हैं।

हों; प्रांतिक में प्रांत भर के, और इसी प्रकार जिले या नगर विशेष सम्बन्धी व्यवस्था में उस जिले या नगर विशेष के प्रतिनिधि हों। प्रायः बड़े क्षेत्र में नीति-निर्धारण का काम होता है। ज्यों ज्यों नीचे के क्षेत्र में आते हैं; अधिकाधिक ब्यौरेवार बातें तय होती हैं। किसी देश या प्रांत आदि की व्यवस्था का उत्तम या निकृष्ट होना उसके नागरिकों के प्रतिनिधियों पर निर्भर है। उनकी नैतिक निर्बलता या असावधानी से बहुत हानिकारक कानून बन सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रतिनिधि अपने पद के महत्व को समझे और यथेष्ट योग्य होने की दशा में ही प्रतिनिधि बनना स्वीकार करे। निर्वाचकों को भी चाहिए कि अनुभवी और निस्वार्थ कार्य-कर्ताओं से ही यह पद ग्रहण करने की प्रार्थना करें, और उनके पक्ष में ही मत दें।

प्रतिनिधि-निर्वाचन सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों पर अगले खंड में, 'मताधिकार' शीर्षक परिच्छेद में विचार किया जायगा।

शासक और नागरिक—उन्नत और विकसित राज्यों में प्रतिनिधि-सभा द्वारा स्वीकृत नीति और आय-व्यय के चिट्ठे के अनुसार काम करने के लिए अनुभवी कर्मचारी नियुक्त होते हैं। ये शासक कहे जाते हैं। इनकी नौकरी तथा वेतन स्थायी होने के कारण इनकी प्रवृत्ति उच्छृंखलता की ओर होती है। ये अपना उत्तरदायित्व जनता (जिसके प्रतिनिधियों से व्यवस्थापक

संस्थाओं का संगठन होता है) के प्रति न समझ कर, अपने अपने विभाग के प्रति समझते हैं। ये जनता के प्रति, विशेषतया पराधीन राज्य में बहुत कुछ उदासीन रहते हैं और सर्वोपरि बन जाते हैं। पुलिस और फौज इनके अधीन होने से, तथा दमनकारी कानून आदि से सुसज्जित रहने से इनकी सत्ता का सर्व साधारण पर विशेष प्रभाव रहता है। परन्तु इन्हें अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करना चाहिये। इन्हें कोई कार्य नागरिकों के हित के विरुद्ध न करना चाहिये। इन्हें उन नागरिकों का कृतज्ञ होना चाहिये जो उनकी त्रुटियां दूर करके उनके वास्तविक उद्देश्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय में विशेष विचार, आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

अस्तु, नागरिकों को भी स्मरण रखना चाहिये कि वे शासकों के कार्य का सम्यग् निरीक्षण और नियंत्रण करते रहें। उनकी प्रतिनिधि सभा का कर्तव्य है कि समय समय पर शासकों के कार्य की आलोचना करके उन्हें बतलाती रहे कि उनका कार्य कहां तक उसकी निर्धारित नीति के अनुकूल या प्रतिकूल है।

न्याय और नागरिक—व्यवस्था और शासन की भांति न्याय कार्य का भी नागरिकों से घनिष्ट सम्बन्ध है। राज्य के कानून नागरिकों और शासकों के लिए समान होने चाहियें। शासकों के लिये कानून में किसी विशेष सुविधा की आयोजना

न होनी चाहिये। उनका व्यवहार कानून के अनुसार है या नहीं, इसका निश्चय न्यायालय करते हैं। जब नागरिकों का शासकों से किसी विषय पर मत-भेद हो, तो उसका निपटारा न्यायालय में ही हो सकता है। न्यायालय इस बात का भी विचार करते हैं कि जिन नागरिकों पर परस्पर एक दूसरे से झगड़ा है, उनमें से कानून की दृष्टि से किस का पक्ष उचित है, एवं किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह ने किसी नागरिक नियम का उलंघन तो नहीं किया है। न्यायालयों का उद्देश्य यह होता कि राज्य में अपराध कम हो; शासक हो या शासित सब अपना अपना कार्य कानून की सीमा में रहते हुए करें; वे अपराधियों के सुधार के लिये विविध उपाय निश्चित करते हैं और आवश्यकतानुसार दंड भी ठहराते हैं। इस प्रकार वे नागरिक जीवन को यथाशक्ति उन्नत करने में सहायक होते हैं।

न्यायालयों का उद्देश्य पूरा होने के लिये यह आवश्यक है कि न्याय-कार्य सस्ता हो, गरीब अमीर सब उससे समान लाभ उठा सकें। न्याय कार्य निष्पक्ष भी होना चाहिये, अर्थात् उसमें किसी धर्म रंग या जाति आदि के आदमियों के वास्ते न तो कोई रियायत हो, और न कोई सख्ती ही हो। यह भी जरूरी है कि न्यायाधीश इतने स्वतंत्र हों कि शासकों का भी उन पर अनुचित दबाव न पड़ सके। तभी वे अपने उत्तरदायित्व का सम्यग् पालन कर सकते हैं। इस विषय का विशेष विचार, नागरिकों के न्याय सम्बन्धी अधिकार में किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हो गया होगा कि नागरिकों के राज्य की व्यवस्था, शासन और न्याय से क्या सम्बन्ध है। नागरिकों के अधिकारों का विवेचन स्वतंत्र रूप से दूसरे खंड में किया जायगा। उससे पूर्व, नागरिकता सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। इसलिये अगले परिच्छेद में इसी का विचार किया जायगा।

चौथा परिच्छेद

नागरिकता

"संसार में, कोई देश चाहे जितना छोटा हो, परन्तु यदि वह उदार, उन्नतशील और सुयोग्य है, तो कौन ऐसा मनुष्य होगा जो इन विशाल साम्राज्यों का, जिनके दूर-दूर तक उपनिवेश है, नागरिक बनने की अपेक्षा उस छोटे से देश का नागरिक बनना पसन्द न करेगा?"

—पाल रिचर्ड

नागरिकता; प्राचीन काल में, और आधुनिक काल में—पिछले परिच्छेद में हम यह बता चुके हैं कि 'नागरिक' किस व्यक्ति को कहा जाता है। आज कल प्रत्येक देश में अधिकांश आदमियों को जन्म से ही नागरिकता प्राप्त होती है। प्राचीन काल में प्रायः ऐसा नहीं था। उदाहरणार्थ यूनान के राज्यों में अधिकांश विदेशियों को तथा युद्ध में जीत कर लाये हुए अथवा खरीदे हुए दासों को नागरिक नहीं माना जाता था। दास अन्य उपायों के अतिरिक्त कुछ द्रव्य देकर भी नागरिकता खरीद सकते थे। अब अधिकांश आदमी

नागरिकता विरासत में पाते हैं। यह उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है।

अस्तु, अब हमें यह विचार करना है कि किसी राज्य में उन मनुष्यों की क्या स्थिति होती है, जो 'नागरिक' नहीं होते। उन्हें नागरिकता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है। हम यह भी विचार करेंगे कि जो 'नागरिक' माने जाते हैं, उनकी नागरिकता किन किन दशाओं में विलुप्त हो जाती है।

अ-नागरिक—राजनैतिक दृष्टि से किसी देश के मनुष्यों के दो भेद किये जा सकते हैं, नागरिक और अनागरिक। जो नागरिक नहीं हैं, जिन्हें नागरिकता प्राप्त नहीं है, वे अ-नागरिक कहलाते हैं। इन्हें भी राज्य के विविध नियम पालन करने तथा कर देने पड़ते हैं। इस प्रकार इनका भी राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य रहता है, जिसे न पालने की दशा में ये दंडित होते हैं।

अनागरिक दो प्रकार के होते हैं, स्वदेशी और विदेशी। किसी किसी देश में स्त्रियों को यथेष्ट नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। विशेष प्रकार का दंड मिलने पर, मनुष्यों को कुछ समय के लिये अथवा सदैव के लिये अनागरिक माना जाता है। ये व्यक्ति स्वदेशी अनागरिक कहे जा सकते हैं।

विदेशी अनागरिक वे हैं जो दूसरे देश से रोजगार आदि के लिये आये हुए हों, परन्तु जिन्हें निर्धारित नियमों के अनुसार नागरिक-अधिकार प्राप्त न हुए हों।

विदेशियों के अधिकार—प्रायः प्रत्येक राज्य विदेशियों की रक्षा अपने देश में तो वैसी ही करता है, जैसी अपने नागरिकों की, परन्तु अन्य देशों में उसे इसकी चिन्ता नहीं होती। विदेशी कहीं कहीं जमीन खरीद सकते हैं और प्रायः हर एक राज्य में न्यायालय का उपयोग कर सकते हैं। परन्तु बहुत से देशों में उन्हें मताधिकार नहीं होता; और वे कुछ खास खास पद भी प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार राज्यों में वर्तमान काल में अनेक विदेशियों के नागरिक अधिकार परिमित होते हैं।

नागरिकता कैसे प्राप्त होती है ?—साधारणतया नागरिकता प्राप्त करने के दो प्रकार हैं:—(१) जन्म या वंश से (२) राज्य से नागरिकता की सनद लेकर। पहले प्रथम प्रकार पर विचार किया जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है, जहां के, उसके माता-पिता नागरिक हों। अधिकांश राज्यों में, नागरिकता के लिये, वंश का विचार पुरुष-क्रम से होता है, अर्थात् कोई व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है, जहां का उसका पिता नागरिक हो। इन राज्यों में से किसी राज्य के किसी पुरुष से यदि कोई विदेशी स्त्री विवाह करे तो वह स्त्री अपने राज्य की नागरिक नहीं रहती, वह उस राज्य की नागरिक बन जाती है जिस राज्य का उसका पति नागरिक होता है।

कुछ राज्य ऐसे भी हैं जहां ऐसा नहीं होता। नागरिकता के लिये वंश का विचार स्त्री क्रम से होता है। इंगलैंड आदि कुछ देशों में राज्य की सीमा के अन्तर्गत् जन्म लेने से विदेशियों की संतान को भी नागरिकता प्राप्त हो जाती है।×

ब्रिटिश कानून यह है कि अंग्रेजी जहाज पर जन्म लेने वाला व्यक्ति भी (चाहे उसके माता-पिता अंग्रेज न भी हों) ब्रिटिश नागरिक माना जाता है।

इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका आदि कुछ राज्यों में ऐसा नियम है कि इन राज्यों के नागरिकों की संतान को चाहे उसका जन्म किसी भी देश में क्यों न हो, इन राज्यों की नागरिकता प्रदान की जाती है।

वंश और जन्म-स्थान—इस प्रकार नागरिकता प्राप्ति में साधारणतया दो बातें मुख्य होती हैं—(१) वंश और (२) जन्म-स्थान। वंश का प्रभाव किसी व्यक्ति पर कितना होता है। माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के गुण, कर्म, स्वभाव का कितना प्रतिबिम्ब सन्तान में देखने में आया करता है, यह सब जानते ही हैं। इसकी तुलना में जन्म-स्थान का

× इस प्रकार ये व्यक्ति एक ही समय में दो राज्यों के नागरिक हो जाते हैं, (क) अपने राज्य के, और (ख) इंगलैंड आदि जन्म स्थान वाले राज्य के। परन्तु अधिकांश देशों में किसी विदेशी को 'नागरिकता' देने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि वह अपनी मातृ-भूमि या अन्य किसी भी राज्य का नागरिक न रहे। ऐसी दशा में कोई व्यक्ति एक समय में केवल एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है।

प्रभाव कुछ कुछ दशाओं में बहुत ही कम होता है। आमदोरफ्त (आवाजाई) के साधन क्रमशः अधिकाधिक सुलभ होने के कारण आज कल यात्रा इतनी सुगम हो चली है कि अनेक व्यक्तियों का जन्म ऐसे राज्यों में हो सकता है जहां उन्हें विशेष समय तक ठहरना न हो और जिसके प्रति भविष्य में उसकी ममता या भक्ति बिल्कुल न हो, अथवा बहुत ही कम हो। इस विचार से बहुत से राजनीतिज्ञों का मत यह है कि नागरिकता प्राप्ति में जन्म-स्थान की अपेक्षा वंश को अधिक महत्व दिया जाना उचित है।

देशीयकरण—' देशीयकरण ' (Naturalisation) द्वारा भी नागरिकता की प्राप्ति होती है। 'देशीयकरण' का अभिप्राय यह है कि एक आदमी (विदेशी) अपनी जन्म-भूमि से भिन्न किसी अन्य राज्य की निर्धारित शर्तों और नियमों का पालन करके, या पालन करने की प्रतिज्ञा करके उस राज्य से नागरिकता की सनद और स्वत्व प्राप्त करले। ये शर्तें (या नियम) भिन्न भिन्न राज्यों में पृथक् पृथक् होती हैं, तथापि नागरिकता प्राप्ति की इच्छा रखने वालों को प्रायः निम्नलिखित में से एक या अधिक का पालन करना होता है, इनमें से प्रथम तो प्रायः सभी राज्यों में आवश्यक समझी जाती है:—

(१) निर्धारित समय तक निवास करना, (यह समय भिन्न भिन्न राज्यों में एक वर्ष से लेकर दस वर्ष तक होता है);

(२) राजभक्ति अथवा राष्ट्र-भक्ति की शपथ लेना;

(३) राष्ट्र-भाषा का ज्ञान प्राप्त करना;

(४) नैतिक चरित्र उच्च रखना;

(५) राज्य की तत्कालीन शासन पद्धति और सिद्धान्तों में विश्वास रखना;

(६) अपना भरण-पोषण कर सकना; आवारा न रहना;

(७) जमीन या जायदाद खरीदना; आदि ।

परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति के उप-र्युक्त नियम पालन करने से ही कोई राज्य उसे नागरिक बना ले, अथवा यदि नागरिक बनाये तो उसे सभी नागरिक-अधिकार प्रदान करे ।

एक उदाहरण,—अमरीका की नागरिकता—नागरिकता-प्राप्ति के नियमों की जानकारी के लिये यहां उदाहरण स्वरूप यह बताया जाता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में किसी व्यक्ति को नागरिकता साधारणतया किस प्रकार प्राप्त होती है।× जो व्यक्ति (चाहे वह विदेशी माता-पिता की ही सन्तान हो) यहां जन्म लेता है, या जिसकी नाबालगी में उसके माता पिता यहां के नागरिक हो जाते हैं, उसे तो कानून के अनुसार

× जार्ज मिलबर्न कृत How to become a United States Citezen के आधार पर ।

निर्धारित आयु के होने पर स्वयमेव नागरिकता प्राप्त हो जाती है। इनके सिवाय अन्य व्यक्तियों को नागरिकता प्राप्ति के लिए एकमात्र मार्ग देशीयकरण पद्धति है।

देशीयकरण उन्हीं लोगों का हो सकता है जो इक्कीस वर्ष या इससे अधिक आयु के हों, जो लगातार पांच वर्ष तक यहां रह चुके हों, और जो गोरे हों, अफरीका वाले विदेशी, (Aliens of African nativity) या अफरीका के वंश के (persons of African descent) हों। एशिया वालों को एवं अन्य काले या पीले रंग के आदमियों को अमरीकन नागरिकता प्राप्त करने का कानून से प्रायः निषेध है। पिछले दिनों में बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् जापान वासियों के लिये कुछ सुविधा हुई है। भारतवासियों को साधारण कानून से नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती, विशेष दशाओं में, विशेष कानून से उन्हें यह अधिकार प्राप्त हो सकता है।

देशीयकरण की पद्धति यह है कि नागरिकता प्राप्त करने के उम्मेदवार को अपने इस बात के इरादे की सूचना करनी होती है। यह सूचना वह वहां स्थायी रूप से निवास कर लेने के बाद चाहे जब दे सकता है। प्रत्येक जिले में कुछ अदालतें ऐसी सूचनायें लेने के लिये नियत हैं, उम्मेदवारों को अपने जिले की किसी ऐसी अदालत के क्लर्क को उपर्युक्त सूचना देनी होती है। इस कार्य को प्रारम्भिक पत्र (First paper)

लेना कहा जाता है। ऐसा करते समय उम्मेदवार को कम से कम अठारह वर्ष का होना चाहिये।

संयुक्त-राज्य में कम से कम पांच वर्ष रह चुकने के बाद उम्मेदवार को अदालत के क्लर्क के पास इस विषय का प्रार्थना-पत्र देना चाहिये कि मुझे इस राज्य का नागरिक बना लिया जाय। परन्तु यदि उसे पहले से अंग्रेजी भाषा तथा अमरीका के इतिहास और शासन-पद्धति का ज्ञान न हो तो इस बीच में उसे यह ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।*

'प्रारम्भिक पत्र लेने' के कम से कम दो वर्ष, और अधिक से अधिक सात वर्ष बाद ही उपर्युक्त प्रार्थना-पत्र दिया जाना चाहिये। प्रार्थना-पत्र दिये जाने की सूचना, अदालत में या किसी अन्य ऐसी जगह जहां सर्व साधारण की दृष्टि पड़ सके, ९० दिन तक लगी रहती है। इस बीच में यदि किसी व्यक्ति को कोई प्रमाण-युक्त आपत्ति इस बात के लिये करनी हो, कि उम्मेदवार को नागरिकता प्रदान न की जाय, तो वह क्लर्क को इसकी सूचना दे सकता है। इस पर यथोचित विचार होगा।

---

* कानून तो केवल यह है कि नागरिकता के उम्मेदवार को इस राज्य के सिद्धांतों पर तथा सुसंगठित शासन-पद्धति पर विश्वास होना चाहिये, अर्थात् वह अराजक या अराजकतावादी न हो। परन्तु अदालतें तथा देशीयकरण सम्बन्धी अधिकारी इसका यह आशय लेते हैं कि उसे इस राज्य का इतिहास और शासन-पद्धति जानना चाहिये, क्योंकि उनके मत से, इनके ज्ञान के बिना उम्मेदवार को राज्य के सिद्धांतों आदि पर यथेष्ट विश्वास नहीं हो सकता।

नब्वे ९० दिन बाद, जब अदालत ठीक समझे, उम्मेदवार को दो गवाहों के साथ खुली अदालत में उपस्थित होना पड़ता है। वहां उसकी अंग्रेजी भाषा, अमरीका के इतिहास और शासन-पद्धति की परीक्षा होती है, उसमें सफल होने तथा राज्य के प्रति राजभक्ति की शपथ लेने के बाद उसे नागरिकता की सनद दी जाती है।

नागरिकता किस प्रकार विलुप्त होती है?—निम्न-लिखित बातों से नागरिकों की नागरिकता जाती रहती है:—

१—पहले कहा जा चुका है कि प्रायः एक राज्य की स्त्री किसी दूसरे राज्य के नागरिक से विवाहित हो जाने पर अपने राज्य की नागरिक नहीं रहती।

२—बहुधा एक राज्य का नागरिक दूसरे राज्य का नागरिक बन जाने पर अपने राज्य की नागरिकता से वंचित हो जाता है।

३—जो व्यक्ति अपनी जन्म-भूमि से भिन्न दूसरे राज्य की सीमा में जन्म लेने के कारण ही इंगलैंड आदि देशों के नागरिक बन जांय, वे चाहें तो बालिग़ होने पर, सूचना देकर इस दूसरे राज्य की नागरिकता त्याग सकते हैं।

४—यदि कोई नागरिक अपने राज्य के निर्धारित अधि-कारी को सूचना दिये बिना, बहुत समय तक विदेश में रहे तो उसकी (अपने राज्य की) नागरिकता जाती रहती है। यह समय भिन्न-भिन्न राज्यों में दस वर्ष या कुछ कम ज्यदाह

है। × (इस प्रकार नागरिकता खो देने वाला व्यक्ति यदि अपने नये निवास-स्थान के राज्य की नागरिकता प्राप्त नहीं कर लेता तो वह किसी भी राज्य का नागरिक नहीं रहता।)

५— दुर्व्यवहार के कारण भी नागरिक अपने कतिपय अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं।

नागरिकता का क्षेत्र, राज्य और साम्राज्य—नागरिकता सदैव किसी न किसी राज्य की होती है। प्राचीन काल में अधिकतर राज्य प्रायः बहुत छोटे छोटे होते थे। यूनानी राजनीतिज्ञ अरस्तू का विचार था कि एक राज्य का क्षेत्र इतना परिमित रहना चाहिये कि यदि एक आदमी बीच चौक में खड़ा होकर जोर से बोले तो उस राज्य के सब आदमी उसकी आवाज सुन सकें। इससे स्पष्ट है कि उसकी कल्पना के अनुसार राज्य आज कल के नगरों से भी छोटे थे। प्राचीन काल में भारतवर्ष में भी यह दशा थी कि विदेशी आक्रमणकारी किसी सेना को हराकर केवल कुछ थोड़े से ग्रामों या नगरों पर ही अधिकार पा सकते थे। उक्त ग्रामों या नगरों के समूह का क्षेत्रफल बहुत छोटा होता था और, उसके पास वाले गांव या नगर आक्रमणकारी से युद्ध या संधि करने में सर्वथा स्वतन्त्र होते थे। इससे कहा जा सकता

× सूचना देकर कोई नागरिक चाहे जितने समय बाहर रहे, जब तक वह अपना कर्तव्य पूरा करता रहेगा और अपने राज्य के प्रति भक्ति-भाव रखेगा, वह उसका नागरिक बना रहेगा।

है कि भूतकाल में यहां भी एक एक ग्राम या नगर-समूह एक एक राज्य के समान था। आधुनिक काल में, यद्यपि कुछ छोटे छोटे राज्यों का अस्तित्व बना हुआ है, तथापि अनेक स्थानों में पूर्व कालीन स्थिति बदल गयी या बदल रही है।

आज कल कुछ राज्यों का विस्तार तो बहुत ही बढ़ गया है। इस समय कितने ही साम्राज्य विद्यमान हैं। यद्यपि सिद्धान्त से होना तो यह चाहिये कि एक राज्य या साम्राज्य की सभी प्रजा, नागरिकता के अधिकारों की दृष्टि से समान समझी जाय। परन्तु ऐसा होता नहीं। प्रायः प्रत्येक साम्राज्य के अन्तर्गत् कुछ भाग स्वाधीन, कुछ अर्द्ध स्वाधीन और शेष पराधीन होते हैं। स्वाधीन भागों के नागरिकों के जो अधिकार होते हैं, वह अन्य भागों के निवासियों के नहीं होते। इस प्रकार साम्राज्य की नागरिकता का अर्थ, लोगों के लिए अपने अपने भू-भाग की स्वाधनिता या पराधीनता के परिमाण के अनुसार, भिन्न-भिन्न होता है।

संसार के नागरिक—अनेक विचारशील सज्जन नागरिकता के लिए आधुनिक साम्राज्यों की सीमा को भी ठीक नहीं समझते, उन्हें इससे अनुदारता के ही भावों का परिचय मिलता है। भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के पारस्परिक मनोमालिन्य और संघर्ष के अनुभव के कारण वे चाहते हैं कि यदि साम्राज्य हो तो समस्त मानव समाज का एक साम्राज्य हो, जिसमें

प्रत्येक राज्य अपने-अपने कार्य का संचालन करने में स्वतंत्र हो, तथा एक दूसरे की यथाशक्ति सहायता करता रहे। इस प्रकार वे यह भी चाहते हैं कि सद्गुणों से आभूषित प्रत्येक नागरिक संसार भर का नागरिक हो। वह कहीं जाय, कहीं रहे, वह अपने कर्तव्यों का पालन करे और सर्वत्र उसके न्यायोचित अधिकारों की रक्षा हो। इस विषय में हम अपने विशेष विचार अन्यत्र प्रकट करेंगे।

इस खंड में नागरिक-शास्त्र सम्बन्धी प्रारम्भिक बातों का विचार किया जा चुका। अब अगले खंड में नागरिकों के अधिकारों के विषय में ब्यौरेवार विचार करेंगे।

दूसरा खंड

नागरिकों के अधिकार

पहिला परिच्छेद

अधिकारों का साधारण विवेचन

'तुम सम्पूर्ण सत्य को प्रकट करने से डरते हो, मैं सत्य को छिपाने से डरता हूं।'

—टी. मेक्स्विनी.

अधिकारों और कर्तव्यों का सम्बन्ध—पहले बताया गया है कि नागरिक-शास्त्र में नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन होता है। यद्यपि अधिकार और कर्तव्य दो पृथक् पृथक् वस्तुएं मालूम होती हैं, वास्तव में ये भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी हुई एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। अधिकार को यदि हम 'लेना' कहें तो कर्तव्य को हम 'देना' कह सकते हैं। राम को मोहन से कुछ लेना है, या मोहन को राम का कुछ देना है, बात एक ही है। राम या मोहन की दृष्टि से लेने या देने के दो कार्य हैं, परन्तु दी या ली जाने वाली वस्तु के विचार से काम एक ही है।

प्राय: भारतवर्ष में देने का विचार रहा और पश्चिम में लेने की बात की प्रधानता रही। होना असल में यह चाहिये

कि दोनों ही तरफ का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। योरप अमरीका को हम कर्तव्य का पाठ सिखावें तो हमें उनसे अधिकारों की शिक्षा लेने में कोई अपमान नहीं समझना चाहिये। व्यवहारिक संसार में, देना और लेना दोनों साथ साथ चलते हैं।

अधिकारों की ओर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता—इसलिए अधिकारों और कर्तव्यों का विचार साथ साथ होना चाहिये। कर्तव्यों की उपेक्षा करके नागरिकों के अधिकारों के आन्दोलन करने के हम समर्थक नहीं; पर नागरिकों की यह मनोवृत्ति भी तो अच्छी नहीं कि न्यायोचित अधिकारों की प्राप्ति का, अथवा प्राप्त अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न न किया जाय। विशेषतया जब कि यह युग ही अधिकारों का ठहरा।

अन्य विषयों की भांति, अधिकार भी अपनी मर्यादा से बाहर जाने पर हानिकर होता है। इस संसार में दुरुपयोग-किस वस्तु का नहीं हो सकता? अस्तु, हमें अपने अधिकारों की ओर से विमुख हो जाना शोभा नहीं देता। नहीं, नहीं; इस ओर यथेष्ट ध्यान दिये विना नागरिक जीवन यथेष्ट रूप से उन्नत होना कठिन है। निदान, हमें अपने अधिकारों के विषय में सम्यग् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिससे उनका समुचित उपयोग हो सके। अच्छा; पहले यह जानलें कि अधिकारों के लक्षण क्या होते हैं?

अधिकारों के लक्षण-(क)—नागरिक की हैसियत से प्रत्येक व्यक्ति राज्य में रहने वाले अन्य व्यक्तियों के साथ

अपने अधिकतम विकास या पूर्णता की आशा करता है। इसके लिए उसे सम्यग् अधिकार मिलने चाहिये। अधिकार पाकर, अपना विकास करके नागरिक दूसरों के लिए भी अधिक उपयोगी हो जाता है। अधिकारों से नागरिकों को इस योग्य होने में सहायता मिलती है कि वे अपने कार्य, विचार या अनुभव आदि से समाज की सेवा कर सकें, उसे लाभ पहुँचा सकें। जब तक ऐसे अधिकार प्राप्त न हों, नागरिकों को राज्य से कोई लाभ नहीं, उनके लिए राज्य का कुछ अर्थ नहीं।

राज्य को चाहिये कि नागरिकों को ऐसे अधिकार प्रदान करे, जिनसे वे अपना यथेष्ट विकास और उन्नति कर सकें। इसका यह आशय नहीं है कि अधिकारों से नागरिकों को यथेष्ट पूर्णता प्राप्त हो ही जायगी। इसका आशय केवल यही है कि उनका यथेष्ट विकास या पूर्णता-प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं को राज्य जहां तक हटा सकता है, हटावे।

(ख)—राज्य में, प्रत्येक व्यक्ति की, अपने विकास के लिए, अधिकार सम्बन्धी मांग का महत्व बराबर समझा जाना चाहिए। अर्थात् नागरिकों की जाति, रंग, माली हालत, अथवा धर्म या मत आदि के कारण उनमें कोई भेद-भाव न माना जाना चाहिए। इस विषय पर विशेष विचार 'समानता' के परिच्छेद में तथा अन्यत्र प्रसंगानुसार किया जायगा।

(ग)—यद्यपि व्यक्तियों में अधिकार की भावना राज्य-निर्माण से पहले भी होती है, और वे अपने अधिकारों की

रक्षा के लिए राज्य निर्माण करते हैं, तथापि कोई अधिकार वास्तव में, राजनैतिक भाषा में 'अधिकार' नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह राज्य की ओर से मान्य न हो। प्रत्येक अधिकार ऐसा होना चाहिए जिसे राज्य के न्यायालय में सिद्ध किया जा सके। उसका स्वरूप अनिश्चित् सा न रहना चाहिए, वह कानून ऐसा निश्चित् होना चाहिए कि प्रत्येक जिज्ञासु को उसकी स्पष्ट कल्पना हो सके।

इससे विदित होगा कि किसी राज्य के कानूनों के परिपर्तन से नागरिक अधिकारों के तत्व में भी अन्तर आ जाता है। बहुधा ऐसा होता है कि एक समय में जो अधिकार कानून द्वारा मान्य होते हैं, परिस्थिति बदल जाने से अपूर्ण अथवा अनावश्यक समझे जाने लगते हैं। भिन्न भिन्न देशों में समय समय पर अधिकारों की मांग नये रूप में उपस्थित की जाती है, जब प्रस्तुत परिस्थिति में उनका औचित्य सिद्ध हो जाता है, तो कानून से उनके मान्य किये जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में नागरिक अधिकारों के मुख्य लक्षण ये होते हैं:—

१—वे नागरिकों को पूर्णता प्राप्त करने, तथा उनकी विविध शक्तियों के विकास में सहायक हों।

२—राज्य के सब व्यक्ति उनका समान उपयोग कर सकें, ऐसा न हो कि कुछ विशेष व्यक्ति या संस्थायें ही उनसे लाभ उठावें और दूसरे उसी प्रकार की स्थिति होने पर भी उनसे वंचित रहें।

३—वे इस योग्य हों कि यदि कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह, नागरिकों द्वारा उनके उपयोग किये जाने में बाधा उपस्थित करें तो राज्य न्यायालय द्वारा उनकी समुचित रक्षा करा सक।

नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में अन्य बातों के जानने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि उनका कहां तक मर्यादित होना आवश्यक है, और किन दशाओं में नागरिकों को स्वतन्त्र कार्य करना उचित है।

नागरिक के अधिकार और राज्य—किसी भी समय में राज्य उन व्यक्तियों का समूह होता है, जिनका उसके अन्तर्गत् राजनैतिक संगठन हो। इन व्यक्तियों का इस विषय का निर्णय कभी कभी त्रुटि-युक्त भी हो सकता है कि नागरिकों के अधिकार कहां तक मान्य होने चाहियें, और कौनसा अधिकार मान्य न होना चाहिये। जब मुझे यथेष्ट विचार कर चुकने पर यह निश्चय हो जाय कि अमुक विषय में राज्य का निर्णय ठीक नहीं है, वह गलत दिशा में जा रहा है, तो मुझे उससे कदापि सहमत न हो जाना चाहिये, मुझे उसके विरुद्ध

कार्य करने का अधिकार होना चाहिये। इस प्रकार ऐसी दशा में मुझे राज्य के विरुद्ध अधिकार हो सकता है। अवश्य ही मेरा यह अधिकार उस समय राज्य को मान्य न होगा, परन्तु मुझे इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि राज्य अपनी गल्ती को सुधारे। ऐसा करने के लिये मुझे राज्य से मत-भेद रखने की जोखम उठानी ही चाहिये, जब कि नागरिक के नाते राज्य को भूलों से बचाना, और उसे उच्चतम आदर्श पर पहुंचाना मेरा कर्तव्य है। सत्य की रक्षा करने के लिये, और राज्य से उस सत्य को मान्य कराने के वास्ते यदि मुझे राज्य के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार न होगा तो आदर्श की अवहेलना होगी, और शक्ति-प्रावल्य स्वीकार कर लिया जायगा।

अवश्य ही इसका दूसरा पहलू भी है। अर्थात् राज्य को भी मेरे विरुद्ध अधिकार है। उसे अधिकार है कि मुझ से वैसे व्यवहार की आशा रखे, जो सार्वजनिक हित में बाधक न हो, उसमें सहायक ही हो। राज्य को मुझे ऐसा कार्य न करने देना चाहिये, जिस के कारण दूसरे नागरिक उन अधिकारों का उपयोग न कर सकें, जो राज्य की ओर से उनके लिये प्राप्त हैं, अर्थात् मान्य हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के हित का महत्व समान है। अतः मेरा कोई अधिकार सार्वजनिक हित के विरुद्ध नहीं हो सकता। राज्य का कर्तव्य है कि सार्वजनिक हित का यथेष्ट ध्यान रखे, प्रत्येक नागरिक के अधिकार को सार्वजनिक हित की सीमा तक मर्यादित रखे, किसी को

इस मर्यादा का उल्लंघन न करने दे जब कोई नागरिक इस विषय में अवहेलना करे तो राज्य को समुचित कार्रवाई करनी आवश्यक है; निदान ऐसी दशा में राज्य को नागरिकों के विरुद्ध अधिकार होते हैं।

नागरिकों के अधिकारों का आधार उनकी योग्यता होनी चाहिये, इस बात को समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि उम्र, धन, जाति, धर्म आदि का इन अधिकारों के सम्बन्ध में विचार किया जाना कहां तक अनुचित है। पहले स्त्री-पुरुष भेद का विचार करते हैं।

स्त्री-पुरुष-विचार—यद्यपि प्राचीन भारतीय संस्कृति में स्त्रियों और पुरुषों के राजनैतिक अधिकार बहुत कुछ समान होने का परिचय मिलता है।* अधिकांश देशों में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम रहे हैं। इस समय भी अधिकांश राज्य स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी के अधिकार देने में सहमत नहीं हैं। प्रायः लोगों का मत यह है कि कम से कम कुछ नागरिक अधिकार तो स्त्रियों को विशेष ही दशा में मिलने चाहिये, और अन्य अधिकारों के वास्ते कानून के अनुसार पुरुषों के लिये जितनी उम्र या योग्यता आदि आवश्यक हो,

* केकयी का रणक्षेत्र में जाकर दशरथ की रक्षा करना, लक्ष्मीबाई का कुशलता पूर्वक सैन्य-संचालन करना, अहिल्याबाई और रजिया बेगम का प्रशंसनीय शासन-प्रबन्ध करना, अनेक राजपूतानियों का देश-रक्षा के लिये आत्म-बलिदान करना, आदि इस बात के कुछ उदाहरण हैं।

उसकी अपेक्षा स्त्रियों के लिये अधिक परिमाण रखा जाय। दृष्टान्त के लिये इंगलैंड में बहुत समय तक यह नियम रहा है (अब इसमें संशोधन हो गया है) कि तीस या अधिक वर्ष की उम्रवाली स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हो, जब कि पुरुषों को केवल इक्कीस वर्ष की उम्र में मताधिकार प्राप्त हो जाता था। अस्तु, प्रायः यह लक्ष्य रखा जाता है कि किसी अधिकार को प्राप्त करने वाली स्त्रियों की संख्या, उस अधिकार वाले पुरुषों से कम ही रहे। परन्तु आधुनिक जागृति से सर्व-साधारण के विचारों में कुछ उदारता आ रही है। उदाहरण-वत् आयरिश फ्री स्टेट में पुरुषों और स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार समान हैं। अन्य देशों में भी स्त्रियों को मताधिकार देने का विरोध क्रमशः घटता जा रहा है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार हम 'मताधिकार' शीर्षक परिच्छेद में करेंगे।

यहां हमें किसी विशेष अधिकार का विचार न कर सभी राजनैतिक अधिकारों की दृष्टि से विचार करना है। इस विषय में संक्षेप में यही वक्तव्य है कि स्त्रियों को ऐसे अधिकारों से वंचित करना उचित नहीं है, जिनसे वे राष्ट्र की उन्नति में सहायक हो सकती हैं। अवश्य ही इसमें पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति का भी यथेष्ट विचार रखा जाना चाहिये। स्मरण रहे कि कर्तव्यों की उपेक्षा करके, केवल अधिकारों का उपभोग करना कदापि उचित नहीं है, अधिकार होते ही इस-लिये हैं कि वे हमें अपने प्रति तथा समाज के प्रति विविध

कर्तव्य पालन करने में सहायक हों। इस दृष्टि से स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार उस सीमा तक मिल जाने चाहिये जहां तक वे उनके अपने अपने पारिवारिक कर्तव्य पालन में बाधक न हों। इसका यह आशय नहीं है कि इस सीमा के न रहने से सभी या अधिकांश स्त्रियां पारिवारिक कर्तव्यों की अवहेलना करके राजनैतिक क्षेत्र में प्रवृत्त हो जायँगी। नहीं, विचारशील महिलाओं से पूर्ण आशा है कि वे अपने गृहस्थ सम्बन्धी आवश्यक कार्यों और विशेषतया सन्तान का यथेष्ट पालन-पोषण करके राज्य को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने के सम्बन्ध में अपने महान् उत्तरदायित्व का ध्यान रखेंगी। परन्तु नियम केवल विचारशीलों के लिये नहीं, सर्व साधारण को लक्ष्य में रख कर बनाये जाते हैं, जिनमें सदैव कुछ अल्पज्ञ और अविवेकी भी होते हैं। इसलिये स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में हम उक्त सीमा का रखा जाना आवश्यक समझते हैं।

उम्र का विचार—प्रायः यह माना जाता है कि मताधिकार आदि नागरिकों के कुछ अधिकार उन्हें बालिग़ होने पर ही प्राप्त हों। व्यवस्थापक संस्थाओं के लिए होने वाले निर्वाचनों में बहुधा इक्कीस वर्ष या अधिक उम्र वालों को और स्थानीय संस्थाओं के वास्ते प्रतिनिधि चुनने में अठारह वर्ष या इससे अधिक उम्र वालों को मताधिकार होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ आदमियों को इतनी उम्र से पहले भी भला बुरा

पहचानने और अपने अधिकारों का उपयोग करने की क्षमता हो जाती है, तथापि सर्व साधारण का विचार करके, उक्त व्यवस्था ठीक ही है। और यह स्पष्ट ही है कि प्रायः कम उम्र के पुरुषों और स्त्रियों को यह राजनैतिक अधिकार दिये जाने से कुप्रबन्ध होने की ही सम्भावना बहुत अधिक होगी।

स्त्री-पुरुष के भेद से, नागरिकों के अधिकारों पर कुछ साधारण प्रकाश पहले डाला जा चुका है। अब उम्र की दृष्टि से भी कुछ विचार कर लेना है। साधारणतया स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों से अधिक मानी जाती है। उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम उम्र में बालिग़ मान लिया जाता है। भारतीय नीतिकारों ने जहां पुरुषों के लिए साधारणतः पच्चीस वर्ष की उम्र तक विद्याध्ययन आवश्यक बताया है वहां स्त्रियों के लिये सोलह वर्ष तक ही पर्याप्त माना है। सम्भव है इसमें विशेष विचार विवाह की दृष्टि से किया गया हो। परन्तु उनका साधारण वक्तव्य है 'स्त्रियों का आदर दुगना, बुद्धि चौगुणी और प्रेम अठगुना होता है।' इस विचार से तो स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम उम्र में ही विविध राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाने चाहिये। परन्तु जैसा कि पहिले कहा गया है, वर्तमान परिस्थिति में उन्हें पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम अधिकार है; उनके वास्ते उम्र का परिमाण कहीं तो पुरुषों के बराबर और कहीं उससे अधिक रखा गया है। ऐसा बहुत कम है, कि कोई राजनैतिक अधिकार उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम उम्र में प्राप्त हो जाता हो।

हम समझते हैं कि पुरुषों और स्त्रियों के लिये समान उम्र में समान राजनैतिक अधिकार मिलने का आदर्श काफी अच्छा है। हां, इसमें स्त्रियों के पारिवारिक कर्तव्यों की मर्यादा का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, जिसके सम्बन्ध में हम पहले कह आये हैं।

साम्पत्तिक योग्यता और अधिकार—प्रायः राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में साम्पत्तिक योग्यता को बड़ा महत्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ अधिकांश देशों में ऐसे नियम प्रचलित हैं कि इतने रुपये किराये के मकान में रहने वाले को या इतने रुपये मालगुजारी या टैक्स के रूप में देने वाले को, या इतनी सम्पत्ति रखने वाले को अमुक राजनैतिक अधिकार—विशेषतया मताधिकार—प्राप्त हो। ऐसे नियमों से वे व्यक्ति इन अधिकारों से वंचित हो जाते हैं, जिनकी साम्पत्तिक योग्यता इससे कम होती है। ऐसे आदमियों में अनेक व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं और होते हैं, जिनकी राजनैतिक योग्यता दूसरों से किसी प्रकार कम नहीं होती वरन् अनेक दशाओं में ज्यादह भी होती है। इसलिए हम राजनैतिक अधिकारों के लिये साम्पत्तिक योग्यता का ऐसा प्रतिबन्ध अनुचित समझते हैं, जिसके कारण अनेक नागरिक अपने राज्य की सेवा और उन्नति करने में भाग न ले सकें। हां, यदि उन नागरिकों को कुछ अधिकारों से वंचित किया जाय जो समर्थ होते हुए भी परावलम्बी हों, और मुफ्त की रोटी खाते हों तो उचित ही होगा, क्योंकि

इससे नागरिकों में स्वावलम्बन के भाव की वृद्धि होगी, जो राज्य की उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

जाति या धर्म का विचार—नागरिक विषयों में मुख्य उद्देश्य नगर या राष्ट्र का हित साधन करना होता है। इसलिए जाति धर्म या सम्प्रदाय आदि के विचारों को गौण समझना चाहिये, इन्हें प्रधानता कदापि न मिलनी चाहिये। यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के किसी भी व्यक्ति को वह चाहे जिस धर्म या जाति का क्यों न हो किसी विषय में सार्वजनिक हित की उपेक्षा करके, और उसे हानि पहुँचाकर केवल अपनी जाति या धर्म वालों की दृष्टि से कार्य करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये। किसी जाति या धर्म के व्यक्तियों को उतनी ही स्वतंत्रता मिल सकती है, जितनी अन्य धर्म और जाति वालों को; इससे अधिक या विशेष नहीं। प्रत्येक जाति और धर्म वाले व्यक्तियों को अपने तईं राज्य-रूपी एक विराट परिवार का सदस्य समझना चाहिये, और कुटुम्ब-धर्म को भूलकर, उन्हें केवल अपने स्वार्थमय अधिकारोंके लिये लड़ना झगड़ना कदापि उचित नहीं है। किसी भी राज्य में विशेषतया मिश्रित समाज वाले देश में, व्यक्तियों या जातियों के स्वतंत्र अधिकार नहीं हो सकते। जातिगत या धर्मगत अधिकार निर्धारित करने से किसी न किसी जाति या धर्म के लिए पक्षपात होने, और दूसरों को हानि पहुंचाने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार इससे नागरिक जीवन में, सुख-शांति नहीं हो

सकती। अधिकार सम्बन्धी मत-भेद के अनेक प्रश्नों को हल करने का एकमात्र उपाय यही है कि जातिगत या धर्मगत अधिकारों की विध्वंसक कल्पना को तिलांजलि दी जाय, और प्रत्येक अधिकार राज्य के हित की दृष्टि से उचित सीमा में रहे। किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को, कभी-कभी विशेष आवश्यकता होने की दशा में, कुछ निर्धारित समय के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ भले ही देदी जायं, परन्तु जाति या धर्म के आधार पर किसी के साधारण और स्थायी नागरिक अधिकारों में कुछ कमी बेशी नहीं होनी चाहिए।

संख्या और संस्कृति का विचार—कुछ आदमी अल्प संख्या या पूर्व इतिहास अथवा संस्कृति के आधार पर जातियों के रक्षण का, अर्थात् उनको विशेष अधिकार दिये जाने का समर्थन किया करते हैं; अतः इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार कर लेना आवश्यक है। हमें जान लेना चाहिये कि विविध राजनीतिज्ञों का इस विषय में क्या मत-भेद है, और अन्य राज्यों ने अपनी इस विषय की समस्या को किस प्रकार हल किया है।

इस प्रसंग में राष्ट्र-संघ अर्थात् 'लीग ऑफ नेशन्स' की निश्चित् की हुई पद्धति बहुत विचारणीय है। इसे 'माइनारिटी गैरंटी' कहते हैं। योरप के अनेक राष्ट्रों ने इसे मान्य किया है। इसके अनुसार अल्प संख्यक समाज की दो प्रकार की कसौटी होती है, सांस्कृतिक और संख्या सम्बन्धी। सांस्कृतिक कसौटी यह है कि वह समाज भाषा में, जाति में,

या धर्म सम्प्रदाय में बहु संख्यक समाज से मूलतः भिन्न है। संख्या सम्बन्धी कसौटी यह है कि उस समाज की संख्या राज्य के कुल निवासियों में कम से कम बीस फी सैकड़ा हो, और संख्या भी देश के भिन्न भिन्न भागों में इस तरह बसी हुई होनी चाहिए कि उसे जो सुविधाएँ दी जाँय उनका ठीक तरह उपभोग हो सके, अर्थात् वह समाज ऐसा विभक्त न हो कि कहीं भी उसकी संख्या काफी न हो।*

अब, इस पद्धति के अनुसार, अल्प संख्यकों को रक्षण के तौर पर क्या दिया जाता है,* इसका विचार करें। अल्प संख्यकों की रक्षा उनके (क) भाषा, (ख) धर्म, और (ग) जातिगत विशेषता अर्थात् रिवाज के सम्बन्ध में, और केवल इन्हीं के सम्बन्ध में होनी चाहिये। अल्प संख्यक समाज को कोई विशेष राजनैतिक अधिकार नहीं दिया जाता। साम्प्रदायिक निर्वाचन, पृथक् प्रतिनिधित्व, या साम्प्रदायिक दृष्टि से सरकारी पदों पर नियुक्ति आदि की कल्पना इस पद्धति में नहीं है।

---

* इस पद्धति के अनुसार भारतवर्ष के सम्बन्ध में विचार करते हैं। यहां मुसलमानों की संख्या २५ प्रतिशत है। इस प्रकार अखिल भारतवर्ष की दृष्टि से इनका समाज अल्प संख्यक होने के नाते रक्षण का अधिकारी है। परन्तु प्रांतों का अलग अलग विचार करें तो बंगाल और पंजाब में ये बहु-संख्यक हैं, और युक्त प्रदेश या बिहार आदि में इनकी संख्या २० प्रति-शत से कम है। इस प्रकार प्रांतीय दृष्टि से ये अल्प-संख्यक समाज को दिये जाने वाले रक्षण के अधिकारी नहीं हैं।

हम इस पद्धति को उचित और न्याय पूर्ण समझते हैं। भारतवर्ष के राजनीति-प्रेमियों विशेषतया अल्प संख्यकों को इस पर विचार करना चाहिये। वास्तव में किसी राज्य में राजनैतिक दृष्टि से एक ही समाज का होना लाभकारी होता है, भिन्न भिन्न राजनैतिक समाजों के होने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न और दुर्बल हो जाता है।

अधिकारों का वर्गीकरण—यद्यपि अधिकतर नागरिक अधिकारों को सभी सभ्य और उन्नत राज्य सर्व-मान्य समझते हैं, कुछ राज्यों ने प्रारम्भिक शिक्षा की प्राप्ति तथा राष्ट्र-भाषा का प्रयोग आदि कुछ अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं मानी; ये वहां बिना उल्लेख किये ही व्यवहार में लाये जाते हैं। अस्तु, यह बात परिस्थिति पर—देश काल पर—निर्भर है कि किस अधिकार का स्पष्ट उल्लेख हो, और किस का न हो। जिन अधिकारों का विचार प्रायः प्रत्येक राज्य में रखा जाना आवश्यक समझा जाता है, उनका हम आगे क्रमशः विचार करेंगे।

दूसरा परिच्छेद

जानमाल की रक्षा

"इस देश में स्व-पर-संरक्षण की प्रवृत्ति में अत्यन्त कमी दिखायी पड़ती है। लुटेरे तथा नर-पिशाचों के भयंकर अत्याचारों का प्रतिकार न करके चुप-चाप सहन करने की भारतीयों की विचित्र आदत समाज स्थैर्य्य के लिये निराशा उत्पन्न करने वाली है।"

—हिन्दी केसरी

आत्मरक्षा—मनुष्य जीवन बहुमूल्य है। इसे नष्ट करना नैतिक तथा कानूनी दृष्टि से एक घोर अपराध है। इसकी सदैव रक्षा की जानी चाहिये। किसी मनुष्य का जीवन केवल उसके लिये ही उपयोगी नहीं है, वरन् दूसरों के लिये तथा राज्य के लिये भी बहुत लाभकारी हो सकता है। इसलिये इसकी रक्षा की और भी अधिक आवश्कता है। समाज तथा राज्य के नियमों से रक्षित होने से ही कोई आदमी अपने जीवन का अधिकतम उपयोग कर सकता है। इसलिये जो कोई इसे हानि पहुंचाता है, वह न केवल उस मनुष्य का

वरन् राज्य का शत्रु है। इसलिये उन्नत राज्यों में नागरिकों की रक्षा के वास्ते सेना और पुलिस रहती है। परन्तु सेना और पुलिस के आदमियों की संख्या सदैव परिमित ही रहती है। अनेक स्थानों तथा दशाओं में यह सर्वथा सम्भव है कि उन की सहायता प्राप्त न हो सके। अतः प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होता है कि आवश्यकता आ पड़ने पर वह स्वयं शत्रु या आततायी पर आक्रमण करके आत्म रक्षा करे।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न विचारणीय है। यह कहा जा सकता है, कि जब कोई व्यक्ति हमारे प्राण लेले पर उतारू हो तो हम उसे क्षमा क्यों न करें। निस्सन्देह क्षमा का बड़ा महत्व है, भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर ऐसी घटनायें हुई हैं जब कि क्षमाशील सज्जनों ने आततायियों पर अद्भुत विजय पायी है, उनके हृदय में परिवर्तन कर दिया है, और उन्हें शत्रु के स्थान मित्र या अनुचर बना लिया है। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसे उदाहरण केवल अपवाद स्वरूप ही होते हैं। समाज की शान्तता स्थिर रखने के लिये प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी जान और माल की रक्षा कर सके। यदि वह आततायियों को 'क्षमा' करता है, तो वह उनके बल को बढ़ाने तथा समाज को हानि पहुंचाने में सहायक होता है।

दूसरों की रक्षा—अपनी रक्षा की भांति मनुष्यों को अपने सगे सम्बन्धियों, पुत्र, स्त्री, माता, पिता, भाई बन्धु

आदि रिश्तेदारों की रक्षा की आवश्यकता है। समाज प्रिय और परोपकार बुद्धि सम्पन्न होने के कारण मनुष्य में अपने ग्राम और नगर निवासियों, जाति-भाइयों तथा धर्म-बन्धुओं की भी रक्षा करने की उत्सुकता रहती है और हृदय में यथेष्ट उदारता का भाव आ जाने पर वह मनुष्यों में रिश्तेदारी आदि का विचार न कर, जाति, धर्म या देश के क्षेत्र की परवा न कर, मनुष्य मात्र से अपना प्रेम-सम्बन्ध जोड़ लेता है और जब किसी भी आदमी को संकट में देखता है तो बहुधा अपनी जान जोखम में डालकर भी उसकी रक्षा करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। इस बात का लिहाज करके कानून इस तरह का होना चाहिये, जो नागरिकों को आत्म-रक्षा के साथ पर-रक्षा का भी अधिकार दे।

अस्त्र-नियम—नागरिकों का, चोर, डाकू तथा हिंसक जीवों आदि से, अपनी तथा दूसरों की रक्षा करना तभी सम्भव है, जब उनके पास लाठी, खंजर, कृपाण आदि के अतिरिक्त तलवार बन्दूक आदि समुचित अस्त्र-शस्त्र रहा करें। संकट आने का कोई निश्चित् समय नहीं होता। वह चाहे जब उपस्थित हो सकता है। इसलिये नागरिकों को सदैव अस्त्र रखने की अनुमति रहनी चाहिये। राज्य की ओर से इसमें कोई बाधा उपस्थित होना अनुचित है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि संसार में चहुं ओर शान्ति और निरस्त्रीकरण की चर्चा चल रही है, ऐसी अवस्था

में नागरिकों के अस्त्र-सम्बन्धी अधिकार की बात क्यों उठायी जाती है? परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि निरस्त्रीकरण का आशय यह है कि दूसरे देशों पर आक्रमण करने के लिये सेना न रखी जाय। परन्तु अपने अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये तो सेना रखना आवश्यक ही है। नागरिक की आत्म-रक्षा की आवश्यकता तो सदैव रही है और रहेगी ही। पुनः जिन राष्ट्रों के निवासी अस्त्र-विहीन होने के कारण स्वदेश रक्षा नहीं कर सकते, वे बहुधा स्वराज्य के योग्य भी नहीं समझे जाते।

अस्तु, साधारण स्थिति में किसी देश के नागरिकों को हथियार न रखने देना, उन्हें आत्म-रक्षा में असमर्थ, कायर तथा अत्याचार सहन करने वाला बना देना, राज्य की एक भयंकर त्रुटि है। इसका परिणाम स्वयं उस राज्य के लिये भी बड़ा अनिष्टकारी होता है। उसके नागरिक योग्य सैनिक नहीं बनते और विदेशियों के आक्रमण से उसकी रक्षा नहीं कर सकते।

यदि सरकार को यह शंका हो कि हथियार बन्द नागरिक कहीं उसके ही विरुद्ध खड़े न हो जायँ, तो यह भी उचित नहीं। कारण कि सरकार का कर्तव्य पालन तभी होता है जब वह नागरिकों द्वारा अनुमोदित हो। ऐसी दशा में नागरिकों का विरोध होगा ही क्यों? पुनः आजकल तलवार बन्दूक आदि रखने वालों का, आवश्यकता होने पर तोप मशीनगन और हवाई जहाज आदि से अनायास ही दमन

हो सकता है। निदान नागरिकों को आवश्यक अस्त्र रखने में कोई बाधा न होनी चाहिये। हां, जब न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित हो कि कोई नागरिक अपने उक्त अधिकार का दुरुपयोग करता है तो दंड स्वरूप उस नागरिक को थोड़े बहुत समय तक उससे वंचित किया जा सकता है। ×

जीने का अधिकार—साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का जीवित रहने का अधिकार माना जाता है, परन्तु जिसने किसी की हत्या में या विद्रोह में भाग लिया हो, उसे बहुधा प्राणदंड होता है। पहले असभ्य अवस्था में, आदमी प्रायः जान के बदले जान लेते थे, अब सभ्यावस्था में भी यह प्रथा चली आ रही है। हाँ, प्राचीन काल में हत्यारे की जान मृत व्यक्ति के सम्बन्धी लेते थे, अब यह काम जनता की एक संगठित संस्था अर्थात् सरकार करती है। हत्यारों के अतिरिक्त कुछ खास राज-विद्रोहियों को भी फांसी दी जाती है। इस प्राणदंड के सुनने की बहुत से आदमियों को आदत पड़ गयी है। इसके उचित होने न होने का वे कभी विचार नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि किस परिस्थिति में, किन-किन कारणों से प्रेरित होकर किसी ने हत्या की है, और इसमें सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था कहां तक उत्तरदायी है। खून करने का कारण प्रायः क्षणिक आवेश, क्रोध, शराबखोरी,

× भारतवर्ष के अस्त्र नियमों में, इस दृष्टि से, संशोधन होना चाहिये।

पागलपन, विषयवासना, तृष्णा, या राजनैतिक असंतोष की पराकाष्ठा हुआ करती है। इन बातों को दूर करने अथवा नियंत्रित करने का समाज तथा राज्य की ओर से यथाशक्ति प्रयत्न होना चाहिये।

प्राण-दंड के सम्बन्ध में विशेष विचार न्याय के प्रसंग में किया गया है।

आत्महत्या—कभी कभी नागरिक स्वयं ही अपने आत्म-रक्षा सम्बन्धी अधिकार और उत्तरदायित्व (एवं कर्तव्य) को भूल जाते हैं। बहुधा अज्ञान, अन्धविश्वास, मदान्धता, अत्यन्त क्रोध, निराशा, अथवा कभी कभी भूख-प्यास के ही घोर कष्ट के कारण, मानसिक विकार की अवस्था में, आदमी आत्म-हत्या करने पर उतारू हो जाते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि उन्हें उससे रोके और यथासम्भव उन कारणों को दूर करे, जिनसे नागरिक अपनी प्यारी जान स्वयं खो देने को उद्यत हो जाते हैं।

माल की सुरक्षा—नागरिकों की जान की भांति उनके माल की रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। बहुधा नागरिक अपनी जान पर खेल कर भी, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करते हुए, देखने में आये हैं। बात यह है कि जीवित रहने के लिये खाने-पीने आदि के सामान की जरूरत हर किसी को होती है; जिसके पास यह न हो, उसकी जिन्दगी दूभर हो जाती है। इसलिये प्रत्येक नागरिक को इसकी सुरक्षा का अधिकार होता

है। राज्य को चाहिये कि नागरिकों को अपनी उपार्जित सम्पत्ति का यथेष्ट उपभोग करने दे, चोर और डाकुओं से उसकी रक्षा करे, तथा नागरिकों को उसकी रक्षा के लिये हथियार रखने की अनुमति दे। साथ ही राज्य को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि नागरिकों से इतना अधिक लगान या कर (टैक्स) आदि न ले कि वे धनोत्पादन के कार्य में निराश हो जायँ। क्योंकि ऐसे आदमी आवारा और बेकार होकर दूसरों के जान-माल की रक्षा में बाधक होते हैं।

इस अधिकार की मर्यादा—क्या नागरिकों के माल की सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार की कोई मर्यादा नहीं है? क्या कोई नागरिक मनचाही सम्पत्ति उत्पन्न करके, उसका मन चाहा उपभोग भी कर सकता है? हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमारा प्रत्येक अधिकार इसलिये है कि उसे पाकर हम अपना विकास करने के साथ, समाज या राज्य के लिए अधिक उपयोगी हो सकें। इस विचार से यह स्पष्ट है कि मुझे कोई माल या सम्पत्ति रखने का उसी सीमा तक अधिकार है, जहां तक मैं उसके द्वारा अपना तथा समाज या राज्य का हित साधन करूं। मुझे उस दशा में सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं होना चाहिये जब कि मैं उसका दूसरे नागरिकों के हित विरुद्ध उपयोग करूं। यदि मेरी सम्पत्ति से दूसरे नागरिकों में रोग, कुविचार, विलासिता या व्यभिचार आदि का प्रचार होता है तो न केवल मैं उसके लिये दंड का भागी हूं वरन् नागरिकता

के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार यह भी विचारणीय होगा कि यदि उस सम्पत्ति के होते हुए मैं राज्य में अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकता तो मुझे उस 'शरारत करने का साधन' से ही क्यों न वंचित कर दिया जाय।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उतने जान-माल की तो रक्षा अवश्य ही होनी चाहिए, जिससे वह सुख-पूर्वक जीवन निर्वाह कर सके। उससे अधिक माल का वह अधिकारी माना जाय या न माना जाय, इसका निर्णय इस बात के आधार पर होना चाहिये कि वह उसका उपयोग किस तरह करता है; उसके खर्च करने का ढंग समाज तथा राज्य के लिये हितकर है, या अहितकर। + इस सिद्धान्त के, अभी, विविध राज्यों को मान्य होने की सम्भावना कम है, तथापि सब के लिए यह विचारणीय अवश्य है।

विदेशों में जान-माल की रक्षा—स्वदेश की भांति विदेशों में भी नागरिकों को अपनी जान-माल की रक्षा का अधिकार होता है। नागरिकों को इस बात का आश्वासन होना चाहिये कि राज्य के शत्रु-देशों को छोड़ कर, हम चाहे जहां जांय, हमें हमारे इस अधिकार के उपभोग में राज्य की भरसक सहायता मिलेगी। सभ्य राज्य जब किसी देश में अपने नागरिकों की जान-माल की क्षति होते देखते हैं तो उस देश के

+ कांग्रेस का ५००) का प्रस्ताव

अधिकारियों को समुचित चेतावनी या दंड देकर अपने गौरव-वर्द्धक कर्तव्य का पालन करते हैं।

अस्तु, स्वदेश में, तथा विदेशों में नागरिकों को अपनी जान-माल की रक्षा का अधिकार होना चाहिये, उनके पास यथेष्ट अस्त्र रहने चाहिये और राज्य-नियम ऐसा होना चाहिये, जिससे नागरिकों को अपने उक्त अधिकार के उपभोग में समुचित सहायता मिले।

तीसरा परिच्छेद

शरीर-स्वातंत्र्य

"*क्रान्तिकारी का विचार, उसकी नीयत, उसके साधन, और उसके उद्देश्य से होना चाहिये, और जब इन सब में सत्य विद्यमान रहता है तो उसका कार्य 'सार्वजनिक पुण्य का कार्य' बन जाता है।*"

—टी॰ मैकस्विनी

"*बिना तुम को शीघ्र ही कारण बतलाये, तथा न्यायालय में मामला चलाये, किसी को यह अधिकार नहीं है कि समाज के नाम पर तुम्हें कैद करे या जासूसी द्वारा तुम्हें कष्ट पहुंचावें।*"

—जोसेफ मेजीनी

शरीर-स्वातंत्र्य का अभिप्राय—नागरिक के शरीर स्वातंत्र्य का अभिप्राय यह है कि वह अपने घर में आजादी से रह सकता है, उसकी इच्छा या स्वीकृति विना न कोई उसके घर में घुस सकता है, और न कोई उसकी तलाशी ही ले सकता है, जब तक कोई मैजिस्ट्रेट इस बात की लिखित

सूचना न दे कि अमुक कारण से, उसके मकान के अमुक भाग की तलाशी ली जानी आवश्यक है। पुनः जब तक न्यायालय द्वारा किसी अपराध में पूर्णतः दोषी प्रमाणित न हो, केवल सन्देह के आधार पर कोई नागरिक नजरबन्द, निर्वासित या कैद नहीं किया जा सकता, एक निर्धारित अवधि (प्रायः चौबीस घंटे) से अधिक हवालात में नहीं रखा जा सकता, तथा उसे अन्य किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया जा सकता, उससे जमानत नहीं मांगी जा सकती, और न उसके अपनी सम्पत्ति के किसी भाग के उपभोग करने में कोई बाधा उपस्थित की जा सकती है। युद्ध तथा संकट-काल आदि की ऐसी विशेष परिस्थिति के सिवाय, जब कि मुकद्दमा चलाना सर्वथा असम्भव ही हो, किसी मनुष्य को खुली अदा-लत के निर्णय के विना किसी प्रकार का दंड नहीं दिया जाना चाहिये।

प्रायः अनियंत्रित राज्यों में, शासकों का इशारा पाकर पुलिस चाहे जिस आदमी की तलाशी लेती, और पकड़-धकड़ करती रहती है। यह सर्वथा अनुचित कार्य है। अपनी कार-वाई के लिए समुचित आधार मिलने पर ही पुलिस को किसी की तलाशी लेनी या गिरफ्तारी करनी चाहिये।

राजनैतिक अपराधी—इस प्रसंग में राजनैतिक अपरा-धियों के विषय में कुछ विशेष विचार किया जाना आवश्यक

है। जो लोग राजा या राज्य के विरुद्ध युद्ध करते हैं, या षड़यंत्र रचते हैं, या जो व्यक्तिगत या सामुहिक रूप से कानून-भंग करते हैं या राज्य को पलटने का यत्न करते हैं, वे राजनैतिक अपराधी कहे जाते हैं। ये प्रायः अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् देश-भक्ति के भावों से प्रेरित हो कर ही उक्त कार्यों में भाग लेते हैं। इनका मार्ग अनुचित या त्रुटि-युक्त हो सकता है, पर इनके उद्देश्य उच्च होने में सन्देह नहीं है। इसलिये कुछ विचारशील राज्य यह समझते हैं कि जिस देश में राजनैतिक अपराधियां की संख्या जितनी अधिक होगी, उतनी ही उसकी शासन-पद्धति अधिक दूषित होगी। जब वे राजनैतिक अपराधों की वृद्धि होते देखते हैं तो वे अपराधियों को दंड देने की अपेक्षा अपने शासन-यंत्र को ठीक करना और उसे अधिकाधिक लोकमत के अनुसार बनाना अच्छा मानते हैं। इसी विचार से कुछ उन्नत राज्य अपने राजनैतिक बन्दियों को छोड़ते जाते हैं। वे राजनैतिक अपराध में गिरफ्तारी भी बहुत कम करते हैं। (जब कि उनका शासन-कार्य नागरिकों के मतानुकूल होता है, तो गिरफ्तारी का प्रसंग ही कम आता है।) उनका आदर्श यह है कि राजनैतिक कैदी एक भी न रहे। इसका अभिप्राय कोई यह न समझे कि वे उनसे चोर, दगाबाज़ आदि का-सा व्यवहार करते हैं, और उनकी गणना वैसा अपराध करने वालों में करके, केवल सरकारी कागजों में राजनैतिक अपराधियों

की संख्या नहीं के बराबर रखना चाहते हैं। ऐसा करना तो संसार को, तथा स्वयं अपने आपको धोखा देना है।

सभी उन्नत राज्यों में राजनैतिक कैदियों के सुख-स्वास्थ सुविधा और शान्ति आदि का विचार, अन्य अपराधियों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

शरीर-स्वातंत्र्य की रक्षा—अपना शरीर स्वतंत्र बनाये रखने के लिए नागरिकों को ऐसे स्वत्व प्राप्त होने चाहिये, जिनके द्वारा वे शासकों से भी, जब कभी वे निरंकुश हों, अपनी रक्षा कर सकें। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में सन् १६७९ ई. का 'हेबियस कॉरपस ऐक्ट'× (Habeus Corpus Act) वहां के नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा कर रहा है। जब से यह कानून बना है, वह देश वास्तव में स्वाधीनता-प्रेमी होने का गर्व कर सकता है। इसमें वहां के न्यायाधीशों का भी बड़ा भाग है, वे उक्त कानून की आलोचना और व्याख्या

× इससे उन लोगों की शारीरिक स्वाधीनता की रक्षा की जाती है जिन पर कोई अपराध (Crime) करने का अभियोग लगाया गया हो। यदि बिना वारंट के कोई मनुष्य गिरफ्तार कर लिया जाय तो उसे इस एक्ट के अनुसार शीघ्र ही छुटकारा पाने का अधिकार है। यदि वह वारंट द्वारा किसी अपराध करने के अभियोग पर पकड़ा गया है तो साधारण अपराध के मामले में वह जमानत पर छोड़ दिया जाता है; और अपराध बड़ा हुआ तो उसके शीघ्र विचार किये जाने की व्यवस्था की जाती है।

– सुपार्श्वदासगुप्त

बहुत उदारता से करते रहे हैं। यदि किसी स्वेच्छाचारी अधिकारी ने—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हुआ हो—कभी उसकी अवहेलना कर नागरिकों के अधिकार में बाधा डाली है, तो उसे अपने किये का फल भोगना पड़ा है।

वास्तव में, ऐसी व्यवस्था प्रत्येक देश में होनी चाहिये, जहां कहीं यह नहीं होती, जहां दमनकारी रेग्यूलेशन या आर्डिनैंस× आदि के बल पर राज्य प्रबन्ध संचालित होता है, वहां नागरिकों का शरीर स्वातंत्र्य प्रायः कुछ भी नहीं होता। विशेष अवसर के लिए, राज्य के हाथ में कुछ विशेष अधिकार रह सकते हैं, परन्तु उनका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक होने पर, बहुत ही परिमित काल के लिए होना चाहिये। इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिये कि किसी नागरिक के शरीर स्वातंत्र्य पर आवश्यकता से अधिक लेशमात्र भी तथा क्षण भर के लिए भी प्रहार न हो। इस विषय में पूर्ण सावधानी रखी जाने पर ही नागरिकों का शरीर स्वातंत्र्य सुरक्षित रह सकता है।

× ऐसा कानून, जो नागरिकों की सम्मति के बिना ही, शासक कुछ समय के लिये जारी करे।

चौथा परिच्छेद

विचार और भाषण स्वातन्त्र्य

"आदर्श राजनीति डंके की चोट इस बात की घोषणा करती है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वाधीनता-पूर्वक अपने विचार प्रकाशित करने का अधिकार है। जबानबन्दी की वह सख्त विरोधी है। भाषण स्वातन्त्र्य और समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता की वह बड़ी पुष्ट पोषक है।"

—वुड्रो विलसन

मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने से, उसको स्वभावतः अपने विचार दूसरों के प्रति प्रकट करने तथा दूसरों के विचार जानने की इच्छा होती है।

विचार-विनिमय—एक आदमी अपना कार्य-व्यवहार खास ढंग से करता है, वह अच्छा नहीं होता, दूसरा उसके विषय में अपना विचार प्रकट करता है, इससे उसे अपनी भूल मालूम होती है, और वह अपनी पद्धति या शैली में परिवर्तन करता है। आवश्यक सुधार हो जाता है; उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस प्रकार समाज के व्यवहार में समय

समय पर अनेक परिवर्तन या सुधार होते रहने से वह उन्नत-शील रहता है। इससे विचार-विनिमय की उपयोगिता स्पष्ट है।

विचार-स्वातन्त्र्य की आवश्यकता—विचार-विनिमय उसी दशा में, विशेष आवश्यक और उपयोगी है। जब लोगों के विचार एक ही प्रकार के न हों, वे रूढ़ियों के दास या लकीर के फकीर ही न हों, उनमें कुछ भिन्नता या पृथकता हो। लोगों में स्वतन्त्र रूप से सोचने विचारने की शक्ति हो, और उनके इस शक्ति के उपयोग में कोई बाधायें न हों। जिस प्रकार प्रकृति में विविधता और विभिन्नता होती है, मनुष्यों की भावनाएँ, अनुभव और विचार भी स्वभावतः तरह तरह के होते हैं और प्रकृति की भांति इनकी प्रवृत्ति परिवर्तन की रहती है, परन्तु कहीं कहीं इनमें कृत्रिम बांध लगा दिये जाते हैं। जैसे बहता हुआ जल स्वच्छ रहता है और रुका रहने पर वह सड़ जाता है, उसी तरह जब मानवी विचारों के प्राकृतिक प्रवाह को समाज या राज्य की सत्ता द्वारा रोक कर रखा जाता है तो उन विचारों में अस्वच्छता और विकार उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य चेतनता के भाव को खोने लगते हैं, और जड़ यंत्रों की भांति कार्य करने लगते हैं। इससे समाज और राज्य का अत्यन्त ह्रास होता है, उनकी जीवन-शक्ति विलुप्त हो जाती है। इसलिए समाजों और राज्यों के लिए, उनके व्यक्तियों की विचार स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है।

विचार-स्वातन्त्र्य का क्षेत्र—मनुष्य के सब कार्य उसके विचारों के ही परिणाम होते हैं। यह सम्भव है कि हमारे कुछ कुछ विचार सूक्ष्म जगत् में ही रह जायँ, स्थूल रूप न धारण करें। अर्थात् कार्य में परिणत न हों, परन्तु हम जितने कार्य करते हैं, पहले उनकी कल्पना करते हैं, उनका चित्र हमारे मन पर खिंचता है। इस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध हमारे सब प्रकार के कार्यों से है, वे चाहे आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, या अन्य किसी भी श्रेणी के अन्तर्गत क्यों न हों।

हम अपने विचार दो प्रकार से प्रकट करते हैं—(क) भाषण या वार्तालाप द्वारा, और (ख)—लिखकर अर्थात लेखन द्वारा। इस परिच्छेद में नागरिकों के भाषण सम्बन्धी अधिकार का विचार किया जायगा। लेखनी-स्वातन्त्र्य का विवेचन पीछे होगा।

भाषण-स्वातन्त्र्य—इसका अभिप्राय—मनुष्यों की यह विचार विनिमय करने की शक्ति क्रमशः बढ़ती रहनी चाहिये; इसके लिये उन्हें परस्पर में मिलकर वार्तालाप करने, भाषण देने और सुनने की सुविधायें होनी आवश्यक हैं। इसमें यथा-सम्भव कोई रुकावट न होनी चाहिये। अर्थात् नागरिकों को भाषण स्वातंत्र्य का अधिकार रहना चाहिये।—उन्हें सर्व साधारण के सम्बन्ध में, अथवा व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में ऐसी बातें करने का अधिकार होना चाहिये, जिनकी सार्वजनिक

उपयोगिता हो। नागरिक अपना मत स्वतंत्र रूप से प्रकट करे। हां, यदि उनका मत भ्रम-प्रचारक, अपमानकारक, या राजद्रोहात्मक हो तो उसका आवश्यकतानुसार संशोधन किया जाय। और यदि कोई व्यक्ति जान बूझकर किसी व्यक्ति विशेष या समाज या राज्य के सम्बन्ध में अनुचित विचार प्रकट करे तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जा सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह विचार रखा जाना आवश्यक है कि जब वक्ता के शब्द इस प्रकार के हों और ऐसी परिस्थिति में कहे गये हों कि उनसे तत्काल कोई स्पष्ट हानि होती हो, तभी वह दोषी माना जाय; अर्थात् कोई व्यक्ति ऐसे भाषण के लिये दोषी न माना जाना चाहिये, जिससे बहुत समय पश्चात् हानि होने की केवल आशंका हो।

समाज और भाषण-स्वातन्त्र्य—नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता का विवेचन अन्यत्र किया गया है, उसमें बतलाया गया है कि जहां तक नागरिकों के व्यवहार का उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध है, उसमें समाज की ओर से कोई हस्तक्षेप न होना चाहिये, उन्हें पूर्ण स्वतंत्र रहना चाहिये। व्यावहारिक स्वतंत्रता का आधार मानसिक स्वतंत्रता या विचार स्वातंत्र्य है। जो आदमी स्वतंत्र चिन्तन नहीं करते, या नहीं कर पाते, उनके व्यवहार में स्वतंत्रता का आभास नहीं मिलता। वे उन्नति नहीं कर पाते। इसलिये समाज को उनके तथा अपने कल्याण के लिये भाषण-स्वातंत्र्य की रक्षा करनी चाहिये।

अन्यथा आदमियों में खुशामद, चापलूसी, मक्कारी, लुक-छिप कर बातें करना, कायरता आदि दुर्गुणों की वृद्धि होगी और सामाजिक जीवन बहुत दूषित हो जाएगा ।

बहुधा समाजों में थोड़े बहुत अन्ध विश्वास प्रचलित होते हैं । सर्व साधारण उन्हें बिना बुद्धि या तर्क की कसौटी पर कसे मानते चले जाते हैं । ये विश्वास कभी कुछ उपयोगी होते हैं और कभी अनुपयोगी या हानिकर । इनसे समाज का काम चलता है । और साधारण आदमियों को इनकी जांच करने या इनके विरोध करने का विचार ही नहीं होता । अब यदि कोई विवेकवान व्यक्ति इनकी आलोचना करने का साहस करता है, तो समाज यह सोचता है, कि इससे सामाजिक अशान्ति या कुव्यवस्था होगी, बहुमत क्षुब्ध हो जायगा । इसलिये वह उस व्यक्ति को भाषण-स्वातंत्र्य के अधिकार का उपयोग नहीं करने देता । परन्तु इतिहास बतलाता है कि भिन्न भिन्न देशों में समय समय पर ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित हुए हैं जब कि समाज गलत रास्ते पर जा रहा था, बहुमत गलती पर था, किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का शुभागमन हुआ, उसने समाज को उसकी गलती से सावधान करने का प्रयत्न किया, समाज ने उसका दमन किया, उसे विविध कष्ट दिये और कभी कभी तो उसके प्राण ही ले डाले । उस व्यक्ति के त्याग, कष्टों और बलिदान को देखकर अन्य अनेक व्यक्तियों में सच्ची बात कहने का साहस हुआ और उन्होंने निर्भीकता पूर्वक समाज के

सम्मुख उस विषय की स्वतंत्र विवेचना की, सत्ताधारियों के विरोध तथा उनके द्वारा दिये जाने वाले कष्टों का स्वागत किया। अन्ततः समाज को अपनी भूल मालूम हुई, और जिन व्यक्तियों पर पहले उसने नाना प्रकार के अत्याचार किये थे, उनको अपना पथ-प्रदर्शक मानकर उनके प्रति (कभी कभी मरने बाद) अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

इससे स्पष्ट है कि कोई समाज अपने को पूर्ण ज्ञानवान नहीं कह सकता। गलतियाँ सब से होती हैं, और हो सकती हैं। इसलिये जो आदमी हमारे कार्यों या व्यवहारों की आलोचना करते हैं, उनको हमें ख्वाहमख्वाह अपना शत्रु न समझ लेना चाहिये। हमें उनके कथन पर शान्ति पूर्वक विचार करते हुए आत्म-निरीक्षण करना चाहिये, और आवश्यकतानुसार उनके विचारों से लाभ उठाना चाहिये, अपनी गलतियों को सुधारना चाहिये। तभी हमारी उन्नति और विकास का का मार्ग प्रशस्त बना रह सकता है। निदान, समाज को चाहिये कि वह व्यक्तियों को भाषण-स्वातन्त्र्य का सम्यग् उपयोग करने दे, उसमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करें।

अब हम राज्य के विषय में विचार करते हैं।

राज्य और भाषण स्वातंत्र्यता—उन्नत राज्य अब धार्मिक और सामाजिक विषयों में नागरिकों के भाषण-स्वातंत्र्य अधिकार को कहां तक मान्य करने लगे हैं; इस विषय में

अन्यत्र कहा गया है। निस्सन्देह वे उस क्षेत्र में बहुत कुछ उदार बनते हुए दिखाई पड़ते हैं। परन्तु राजनैतिक विषयों में उनकी धारणा प्रायः यह है कि तत्कालीन व्यवस्था का विरोध करना नियम विरुद्ध है और उसका दमन किया जाना चाहिये।

यही कारण है कि किसी किसी देश में बहुत से अभागे ऐसे होते हैं, जिनकी विचारशक्ति से देश को कुछ लाभ नहीं पहुंचने दिया जाता। ये नजरबन्द, निर्वासित, या जेलों में कैद राजनतिक अपराधी होते हैं। ये गूंगे न होने पर भी, सरकारी आज्ञा के कारण, अपनी जबान पर ताला लगाये रहते हैं, और देश के अन्य निवासियों से विचार-विनिमय नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त किसी किसी पराधीन देश में तो, जिस आदमी के बारे में सरकार को कुछ संदेह होता है, उसका भाषग जब चाहे बन्द किया जा सकता है, या उसके भाषण देने के लिये सरकारी अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया जाता है। कभी कभी आर्डिनेंस (अस्थायी कानून) जारी करके नगर या प्रान्त भर के नागरिकों की सभा करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। सार्वजनिक सभाओं में खुफिया पुलिस की उपस्थिति भी बहुधा वक्ताओं के कार्य में विघ्न उत्पन्न करने वाली होती है।

इस कथन की सार्थकता समझने के लिये हमें जान लेना चाहिये कि जब आदमियों को खुलेआम अपने विचार प्रकट करने से रोका जाता है, तो वे प्रायः चोरी से, लुक-छिप

कर, जहां-तहां बातें करने लगते हैं। उनमें निर्भीकता नहीं रहती। वे कायर हो जाते हैं। और, जो आदमी लुक-छिप कर भी बातें करने का अवसर नहीं पाते, उनकी विचार प्रकट करने की शक्ति का उपयोग न होने से, बेकार पड़े रहने से, उसका क्रमशः ह्रास हो जाना स्वाभाविक है। फिर, उनकी स्वतंत्र रूप से विचार करने की शक्ति ही न रहेगी। और, जो आदमी कुछ सोच विचार नहीं कर सकते, जो यंत्र की भांति कुछ साधारण क्रियायें करते हैं, वे अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते।

यह तो नागरिकों की दृष्टि से बात हुई। परन्तु राज्य की दृष्टि से भी हानि कम नहीं है। भाषण-स्वातंत्र्य के अभाव में राज्य के स्वरूप और कार्यों की यथेष्ट आलोचना नहीं होती। जहां तहां उसकी झूठी प्रशंसा होने लगती है। आदमी उसके गुण-दोष, दिखाने से डरते हैं, और जो नागरिक दोष दिखाते भी हैं, वे अस्पष्ट—गोलमोल—भाषा का व्यवहार करते हैं। और राज्य को अपनी त्रुटियाँ स्पष्ट रूप से जानने का अवसर न मिलने से वह देश-कालानुसार अपना सम्यग् संशोधन नहीं कर सकता। वह उन्नतशील नहीं रहता और क्रमशः ह्रास को प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। हम ऊपर कह चुके हैं कि लोगों को खुलेआम भाषण न देने की अनुमति न रहने की

दशा में वे लुक-छिप कर अपने विचारों का प्रचार करने लगते हैं। इस पर यथाशक्ति नियंत्रण करने के लिये राज्य को गुप्तचर-विभाग की विशाल और भयंकर योजना करनी पड़ती है। नागरिक भले ही यह न समझ सके कि अमुक व्यक्ति गुप्तचर है, या नहीं, परन्तु गुप्तचर विभाग के अस्तित्व से वह बहुत समय तक अनभिज्ञ नहीं रहते। फिर वह बहुधा आशंकित रहने लगते हैं, और सामाजिक या व्यक्तिगत विषयों की बातचीत में भी उन्हें भय का भूत दिखायी देने लगता है। पारस्परिक विश्वास और प्रेम घट जाता है। और समस्त वातावरण अत्यन्त दूषित हो जाता है। इस तरह नागरिकों में बन्धु-भाव का ह्रास होकर शत्रु-भाव की वृद्धि होना किसी भी राज्य के लिये हितकर नहीं हो सकता।

रुकावटों से हानि—ऐसी दशा में जो नागरिक सार्वजनिक हित के लिये अपना विचार-पूर्ण मत प्रकाशित नहीं कर सकते, वे समाज और राज्य को अपने अनुभव का लाभ नहीं पहुँचा सकते। इस विचार से, बड़े बड़े राजनीतिज्ञों की यह सम्मति है, कि नागरिकों को व्यक्तिगत एवं सामुहिक रूप से, अपना मत प्रकाशित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। वह चाहे राजा के वर्तमान प्रबन्ध को अपूर्ण या दोषी बतलावे या उसके संशोधन अथवा रद्द किये जाने के विषय में भाषण दे। उनके मत-प्रकाशन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न की जानी चाहिये।

राज्य के लिये विचारणीय—राज्य को विचार करना चाहिये कि यदि कोई व्यक्ति उसके विरुद्ध आन्दोलन करता है, और उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर खासा पड़ता है, अथवा बहुत से नागरिक उसका साथ देने को तैयार हो जाते हैं, तो इस दशा में राज्य के कार्य–व्यवहार में कोई विशेष दोष होगा। क्योंकि साधारणतः आदमियों का यह स्वभाव होता है कि वे शांति और सुव्यवस्था के प्रेमी होते हैं, और जब तक कोई विशेष कारण विद्यमान न हो कुव्यवस्था या उलट फेर करने वाले आन्दोलन में योग देना नहीं चाहते।

राज्य को चाहिये कि लोकमत के अनुसार कार्य करने वाले सर्व साधारण को वस्तु स्थिति से ऐसा परिचित रखे कि उन पर किसी व्यक्ति की मिथ्या और भ्रम-प्रचारक बातों का विशेष प्रभाव न पड़ सके। राज्य के विशाल-भवन का आधार इतना दृढ़ होना चाहिये कि किसी के छोटे-मोटे प्रहार से उसके गिरने की आशंका न हो; वह बालू की भीत की तरह निर्बल और नाजुक न होना चाहिये। जिसे हरदम आलोचना रूपी हवा के झोंके का भी डर रहे।

कुछ के लिए सब का अधिकार छीना जाना अनुचित है—भाषण-स्वातन्त्र्य के विरोधी कभी कभी कह देते हैं कि कुछ आदमी स्वभाव से उद्दंड और शरारती होते हैं, उन्हें अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करने देने के लिये समाज में शक्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये, सार्वजनिक भाषण

पर कुछ प्रतिबन्ध रखना आवश्यक है। इस विषय में विचार यह करना चाहिये कि ऐसे उद्दंड और शरारती आदमी सदैव इने-गिने ही हो सकते हैं। इनका सुधार और नियंत्रण करना कोई असाध्य कार्य नहीं, विशेषतया जब कि राज्य सुसंगठित हो और उसे लोकमत की महान् शक्ति और योग्यता प्राप्त हो। अस्तु, उन लोगों के लिये समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये, न कि उनके भय से सर्वसाधारण को ऐसे अधिकार से वंचित किया जाय, जिस पर उनका बहुत-सा विकास और उन्नति निर्भर है। यदि कोई राज्य इस विषय में ठीक विचार न कर सर्वसाधारण के भाषण-स्वातन्त्र्य में बन्धन लगाता है तो वह गौण रूप से यह सूचित करता है कि वह उन थोड़े से व्यक्तियों का दमन करने में असमर्थ है। अतः वह अपनी निर्बलता का स्वयं परिचय देता है, और यह उसके लिये अनिष्टकारी है।

युद्ध-विरोधी भाषण—अब यह विचार करना है कि क्या युद्ध आदि संकट की स्थिति में भी नागरिकों को भाषण-स्वातंत्र्य रहना चाहिये? जब कोई राज्य दूसरे से युद्ध करना चाहे तो क्या सब नागरिकों को उसका समर्थन ही करना चाहिये? क्या किसी नागरिक को उसका विरोध करने की अनुमति न होनी चाहिये? इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने पृथक्-पृथक् और सविस्तर विचार किया है। परन्तु नागरिकता के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार, संक्षेप में यही कहा जा

सकता है कि यद्यपि प्रायः राज्यों की युद्ध लिप्सा बढ़ी हुई है, और वे बहुधा इस विषय में नागरिकों के अधिकारों को नियंत्रित कर देते हैं; परन्तु आदर्श की दृष्टि से नागरिकों को स्वतंत्रता रहनी चाहिये। यदि वे युद्ध को उचित समझें तो उस का समर्थन करें, और यदि उसे अनुचित समझें तो उसका विरोध करें। किसी राज्य को अपने नागरिकों के मत की अवहेलना करके मनमाना कार्य न करना चाहिये। युद्ध जैसे कार्य में नागरिकों के सहयोग की अत्यन्त ही आवश्यकता होती है, यदि बहुमत उसके विरुद्ध हो तो ऐसा कार्य कदापि न करना चाहिये। अगर नागरिकों की खासी संख्या भी युद्ध का विरोध करने वाली है तो सरकार की नीति संदिग्ध ही कही जायगी, उसे उस पर पुनः और यथेष्ट विचार करना चाहिये। और नागरिकों को युद्ध की आवश्यकता और उपयोगिता समझाकर बहुमत अपने पक्ष में करना चाहिये। जिस दशा में इनेगिने व्यक्ति ही युद्ध का विरोध करने वाले हों, और अन्य सब उसे न्यायाकूल समझते हों तो, सरकार को थोड़े से व्यक्तियों को युद्ध विरोधी भाषणों से भयभीत होने का, या उनसे अपनी सफलता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। निदान युद्ध कोई ऐसा विषय नहीं है, जिस में नागरिकों की भाषण-स्वतंत्रता नियंत्रित की जाय।

Grammer of politics के आधार पर।

विशेष परिस्थिति का विचार—कभी कभी किसी विशेष राज्य के लिये कोई विशेष परिस्थिति भी हो सकती है। राज्य समझता है कि उसके नागरिक काफी विचारवान नहीं हैं। (इससे उस समय उसकी त्रुटि का प्रमाण मिलता है, और उसे इसको यथासम्भव शीघ्र दूर करना चाहिये।) शत्रु से आत्म-रक्षा करना आवश्यक है, और इसकी उपयोगिता तथा इसमें होने वाले खर्च का औचित्य वह पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सका। उसे भय है कि युद्ध विरोधी मनुष्य अपने भाषणों से सर्वसाधारण को अपने पक्ष में करलेंगे और युद्ध के लिये यथेष्ट शक्ति और साधन न रहेंगे। ऐसी विशेष दशा में, संकटापन्न अवस्था में, यदि राज्य कुछ समय के लिये नागरिकों की भाषण-स्वतंत्रता को नियंत्रित करे तो उसका कार्य आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। स्मरण रहे यह केवल अपवाद के रूप में है। यह आदर्श नहीं है। विशेष संकट के निवारण होते ही राज्य को नागरिकों के भाषण-स्वातंत्र्य-अधिकार को मान्य करलेना चाहिये।

भाषण स्वातन्त्र्य की रक्षा आवश्यक है—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों के विकास और उन्नति में सहायक हो। उनमें ज्ञान का प्रचार करे। विविध शिक्षा-संस्थायें स्थापित करे। इस कार्य में सार्वजनिक भाषणों से बड़ी सहायता मिलती है। लोगों को बड़े बड़े सुधारकों, विद्वानों और प्रतिभाशाली नेताओं के विचार

जानने को मिलते हैं। ऐसे उपयोगी साधन की अवहेलना करना, उसके उपयोग में बाधा डालना किसी भी विवेकशील राज्य को शोभा नहीं दे सकता। इससे तो यथासम्भव प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

नागरिकों में एक दूसरे के विचार जानने की, भाषण सुनने की इच्छा प्रकृतिदत्त है। इसे दमन करना बहते हुए पानी के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करना होता है। प्रवाह रुकेगा नहीं, हां यह अवश्य होगा कि वह इधर-उधर को अपना रास्ता बनाले, अथवा कृत्रिम बांधों को तोड़-फोड़ डाले। इसी प्रकार जब लोगों को खुले आम, सार्वजनिक भाषणों से दूसरों के विचार मालूम नहीं होते तो उनकी उत्सुकता और भी बढ़ जाती है। वह लुक-छिप कर—येन-केन प्रकारेण—उन्हें जानने का प्रयत्न किया करते हैं। और, क्योंकि इस रीति से इन्हें जो विचार मिलते हैं, वे सीधे रास्ते न आकर कभी कभी बड़े चक्करदार रास्ते से आते हैं। इन विचारों में बहुत मिलावट हो जाती है। फिर सुनने वालों को इनकी अपूर्णता का तो सदैव ही संदेह रहता है, वरन् वे अपनी अपनी कल्पना के आधार पर इनकी पूर्ति करने लगते हैं। इससे बहुत से झूठे और भ्रम-पूर्ण विचारों का प्रचार हो जाता है। शुद्ध ज्ञान का लोप होने लगता है। अतः नागरिकों एवं राज्य दोनों की दृष्टि से भाषण-स्वातंत्र्य की रक्षा की जानी चाहिये।

पांचवा परिच्छेद

लेखन और प्रकाशन का अधिकार

"*किसी नैतिक सिद्धान्त का यह कहकर खंडन नहीं किया जा सकता कि लापरवाह लोग इसका दुरुपयोग करते हैं अथवा यह कहकर कि यदि अमुक सभा में या अमुक स्थिति म इसका खुल्लमखुल्ला प्रचार किया जायगा तो हानि की सम्भावना है।*"

—**डाक्टर मरे**

लेखन-कार्य—पिछले परिच्छेद में नागरिकों के भाषण-स्वातंत्र्य का विवेचन हो चुका है। किसी मनुष्य के व्याख्यान से उस समय के, तथा पास रहने वाले व्यक्ति ही लाभ उठा सकते हैं। परन्तु लेखन-शक्ति से आदमी दूर दूर रहने वाली (समकालीन) जनता को ही नहीं, वरन् भविष्य में आने वाली पीढ़ियों को भी अपने अनुभवों से परिचित कर सकता है। इस प्रकार, किसी समय तक एक काम में जितनी उन्नति हो चुकती है, उसके बाद उसके आगे का काम किया जा सकता है। लेखन-कला की बदौलत आने वाली पीढ़ियां अपने पूर्वजों के अनुभव से लाभ उठाती हैं और उन्हें अपने

कामों को हर बार उस काम की प्राथमिक अवस्था से आरम्भ नहीं करना पड़ता।

प्रकाशन का महत्व—लिखने की विद्या के साथ प्रकाशन-कला ने सहयोग करके तो मानवी उन्नति की गति और भी बढ़ादी है। साहित्य अब पहिले की अपेक्षा कितना सुलभ और सस्ता हो गया है, इसे प्रत्येक पाठक जानता है। यद्यपि कहीं कहीं बहुत सस्ता होने के कारण इसके महत्व घटने के भी उदाहरण मिल सकते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं, कि आज कल प्रत्येक देश में जनता की जागृति और प्रगति में वहां प्रकाशित होने वाली पुस्तकों, तथा पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा भाग होता है। ये पाठकों को बाहरी दुनिया का परिचय देती हैं, प्रतिदिन होने वाली विविध सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक घटनाओं का ज्ञान कराती हैं, तथा उनके सम्बन्ध में समयोपयोगी आलोचना करके उपयुक्त लोकमत तैयार करती हैं।

स्वातंत्र्य अपहरण करने से हानि—पिछले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि नागरिकों के भाषण-स्वातंत्र्य को अपहरण करने से क्या क्या हानियां होती हैं। वे ही बातें बहुत कुछ लेखन और प्रकाशन-स्वातंत्र्य को अपहरण करने के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं।

शिक्षित व्यक्तियों में अपने विचार लेखबद्ध करके प्रकाशित कराने तथा दूसरों के, ग्रन्थों, या पत्र-पत्रिकाओं आदि

में प्रकाशित विचारों को पढ़ने की स्वाभाविक उत्सुकता होती है। इसलिये लेखन या प्रकाशन में बाधा उपस्थित करना बहुत अनुचित है। नागरिकों के विचारों को प्रकट होने का अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिये। लेख, पुस्तकें और अखबार एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने का काम डाकखानों द्वारा, और सम्वाद आदि भेजने का काम डाक, या टेलीफोन, तार द्वारा होता है। इससे बहुधा नागरिकों के लेखन और प्रकाशन को 'सेन्सर करने' अर्थात् छान-बीन के लिये इन संस्थाओं पर नियंत्रण रखा जाता है। इसलिये नागरिकों को इन संस्था-सम्बन्धी नियमों के विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है।

जो अखबार या पुस्तकें खुल्लमखुल्ला नहीं पढ़े जा सकते, उन्हें लुक-छिपकर पढ़ने के लिये प्रवृत्ति हुआ करती है, यह मनुष्य का स्वभाव है। सरकार अपनी दमन-नीति से इसे रोकने का यत्न करे तो इसमें उसे कुछ समय के लिये भले ही सफलता मालूम हो, पर स्थायी लाभ होने की सम्भावना बहुत कम होती है। इसके अतिरिक्त दमन-नीति से प्रजा में असन्तोष बढ़ता है, और यह राज्य के लिये अन्ततः अच्छा नहीं होता। निदान, जिस तरह एंजिन के बॉयलर (Boiler) से निकलने वाली भाफ के बाहर आने के लिये 'सेफ्टी वाल्व' (Safety Valve) की आवश्यकता होती है, और उसके बन्द कर देने से बॉयलर के टूटने-फूटने

की जोखम उठानी पड़ती है, इसी प्रकार जो सरकार जनता के विचार-विनिमय को रोकती है, वह समाज-यंत्र को बिगाड़ने और उससे विद्रोहात्मक शक्तियों को बढ़ाने का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेती है। क्या वर्तमान सरकारें इस तत्व का गम्भीरता से विचार करके, अपने कर्तव्य का उचित पालन करेंगी?

लेखन और प्रकाशन सम्बन्धी अधिकारों की मर्यादा—इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि नागरिकों के अन्य अधिकारों की भांति उनके इस अधिकार की भी मर्यादा रहनी चाहिये। उनका स्वच्छन्द व्यवहार लेख आदि छपाकर अपने नागरिक बन्धुओं के विचारों को कलुषित करना, किसी की व्यर्थ निन्दा या अपमान करना, अथवा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाना—कदापि उचित नहीं है। धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक, किसी भी प्रकार का विषय हो, उस पर लेख आदि असत्य, या अनुचित शैली के न होने चाहिये। जब जब नागरिक इस सम्बन्ध में अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते मालूम पड़ें, राज्य उसमें निष्पक्ष होकर समुचित हस्तक्षेप करे।

स्वतंत्र न्यायालयों द्वारा नागरिकों के लेखन और प्रकाशन सम्बन्धी अधिकारों की ऐसी मर्यादा बनी रहनी चाहिये जिससे नागरिक अपनी इन शक्तियों का समुचित उपयोग और विकास कर सकें, नागरिक जीवन उन्नत होता रहे, और राज्य इसमें अनुचित हस्तक्षेप न करे। साथ ही विचार-स्वातंत्र्य को

नियंत्रित करने वाले कानून यथेष्ट विचार और तर्क-वितर्क के पश्चात् बहुत सरल तथा स्पष्ट भाषा में बनाये जाने चाहियें। उनका आवश्यकतानुसार समय समय पर संशोधन भी होता रहना चाहिये। ऐसा न हो कि निम्न अधिकारी उनका वास्तविक अभिप्रायः भूल जांय और उनका दुरुपयोग करें।

साहित्य की उन्नति होती रहनी चाहिये—साहित्य की उपयोगिता पहले बतायी जा चुकी है। राज्य का कर्तव्य है कि इसके प्रचार और वृद्धि में यथेष्ट रूप से प्रयत्नशील रहे। वह कोई ऐसा प्रतिबन्ध न लगाये कि इस कार्य में बाधा पहुंचे। जब राज्य की ओर से लेखन या प्रकाशन में बाधाएं उपस्थित होती हैं तो साहित्य उन्नति-मूलक नहीं रहता। अनेक कवि, लेखक और सम्पादक अपनी योग्यता और प्रतिभा का समुचित परिचय नहीं देते। वे अपने मनोभावों को स्पष्ट रूप से प्रगट नहीं करते। वे देशोन्नति के लिये जो उपाय आवश्यक समझते हैं, उन्हें प्रकाशित करते हुए झिझकते हैं, या तो वे उन्हें अपने मन में ही रखते हैं, अथवा अस्पष्ट भ्रमात्मक और गोल मोल भाषा वाले लेखों में प्रगट करते, जिससे पाठकों को इतना लाभ नहीं हो पाता, जितना होना चाहिये। साहित्य में दुरंगापन आ जाता है—उसमें कृत्रिम रहस्यवाद और छायावाद आ जाता है। उसका आशय बहुत से पाठक समझ नहीं पाते, या अपनी अपनी बुद्धि और धारणा के अनुसार समझने लगते हैं,

यह आशय भिन्न भिन्न होने के अतिरिक्त प्रायः रचयिता के अभीष्ट आशय से बहुत दूर होता है। जनता के मानसिक विचारों में इस प्रकार का विकार पैदा हो जाना नागरिकों एवं राज्य दोनों की दृष्टि से भयावह है। अतः दोनों को चाहिये कि लेखन और प्रकाशन में अनावश्यक और अनिष्टकारी बन्धन न लगाने दें, इस कार्य की स्वतंत्रता बनायी रखें।

छठा परिच्छेद

सभा करने का अधिकार

"एक परमात्मा की सन्तान होने से तुम सब भाई भाई हो; और क्या भाई भाई के परस्पर मिलने बैठने-सभा सम्मेलन करने-में बाधा डालना अपराध नहीं है ?"

—मैज़िनी

पिछले एक परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि नागरिकों को भाषण-स्वातंत्र्य होना चाहिये। भाषण देने और सुनने के लिये सभा होना आवश्यक है। इस प्रकार भाषण स्वातंत्र्य के अधिकार में सभा करने का भी अधिकार सम्मिलित है। परन्तु इस विषय में कुछ विशेष विचार करने के लिये, इस का पृथक् विवेचन किया जाता है।

सभा करने के अधिकार का महत्व—पहले कहा जा चुका है कि नागरिकों को भाषण-स्वातंत्र्य होना चाहिये। बहुधा लोगों को राज्य कार्यों के विषय में कुछ शिकायत होती हैं। उन शिकायतों को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिये, सार्वजनिक सभाओं की योजना करके उनमें भाषण देने की आवश्यकता होती है। इन सभाओं में बहुधा दूसरे पक्ष का

भी विचार मालूम हो जाता है, और नागरिक एक निश्चित् मत पर पहुंच जाते हैं। इससे सभाओं की उपयोगिता स्पष्ट है। नागरिकों को सभा करने का यथेष्ट अधिकार होना चाहिये। इसी लिये इंगलैंड आदि उन्नत देशों में मनुष्यों के सभा करने और भाषण देने के कार्य को उनका जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया गया है। वहां कोई कानून ऐसा नहीं है, जिससे नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है अथवा इसका निषेध ही किया गया है। वहां तो परम्परा अर्थात् रिवाज से ही सर्वसाधारण को यह अधिकार प्राप्त है।

वास्तव में इस अधिकार का बड़ा महत्व है। राजनैतिक सच्चाई को मालूम करने और प्रचार करने के लिये स्वतंत्रता पूर्वक विचार करने और भाषण देने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। वाद-विवाद का उद्देश्य तभी सफल होता है, जब सभा करने और भाषण करने की स्वतंत्रता हो। स्वतंत्रता-पूर्वक की हुई सभाओं में भ्रमात्मक विचार दूर हो जाते हैं। कुविचारों के प्रकट हो जाने पर उनका खंडन हो सकता है, परन्तु यदि नागरिकों को उन्हें प्रकट करने का अवसर न मिले, भय द्वारा उन्हें भीतर ही भीतर रोका जाय तो लोगों को वे सच्चे प्रतीत होते रहते हैं, और उनसे बड़ा अनर्थ होता है। जनता में बुरे विचार रोकने के लिये राज्य को चाहिये कि उसमें शिक्षा का प्रचार करे, और कानून-भंग करने वालों को समुचित दंड दे, न कि नागरिकों के सभा

करने के बहुमूल्य और महत्व-पूर्ण अधिकार का अपहरण करे।

इस अधिकार की मर्यादा—पहले बताया जा चुका है कि राज्य का कार्य, नागरिकों को उनके सामुहिक कार्यों में यथासम्भव सहायता देना है। इसलिये राज्य के कर्मचारियों को चाहिये कि सार्वजनिक सभायें करने वालों को विविध प्रकार की सुविधायें दें, परन्तु वे प्रायः ऐसा बहुत कम करते हैं, इसके विपरीत वे बहुधा सभाओं को नियंत्रित या भंग करते ही देखे जाते हैं। अनेक दशाओं में उनका ऐसा करना उचित नहीं होता। अस्तु, हमें अब विचार करना चाहिये कि नागरिकों के सभा करने के अधिकार की मर्यादा क्या है?

प्रत्येक व्यक्ति को एक या अधिक आदमियों के साथ मिलकर बैठने या बात चीत करने का अधिकार है, तो इसका यह आशय नहीं कि कोई किसी के प्रति आपत्ति-जनक या मान हानि सूचक शब्द कहे, अथवा ऐसे तरीके से सभा करे कि सार्वजनिक शान्ति भंग हो, या उत्तेजना फैले, या शान्ति प्रिय नागरिकों में भय का संचार हो। ऐसी सभाओं के लिये उनके संचालक उत्तरदायी हैं। उनके प्रति कानूनी कार्रवाई होनी चाहिये।

शासकों का उत्तरदायित्व—परन्तु, स्मरण रहे कि राजनीति का एक सिद्धान्त यह है कि राज्य का कर्तव्य, व्यक्तियों को उनके प्रत्यक्ष रूप में किये हुए गुनाहों के लिय दंड देना

है, न कि कल्पना के आधार पर उन्हें कल्पित गुनाहों के करने से रोकना। अर्थात् जब तक कोई मनुष्य कानून भंग करते न पाया जाय, तब तक केवल इस आशंका से कि वह कानून भंग कर सकता है, उसे अपने वैयक्तिक अधिकार के उपभोग से नहीं रोका जाना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि किसी सभा की कार्रवाई कानून के भीतर है तो केवल इस विचार से कि उससे उत्तेजना फैलने की सम्भावना है, उक्त सभा नाजायज नहीं ठहरायी जा सकती। यदि ऐसी आशंका हो कि उक्त सभा के किये जाने से दूसरे आदमी ख्वामख्वाह चिढ़ेंगे और शान्ति भंग करने पर उतारू होंगे, तो शासकों या मैजिस्ट्रेटों का काम यह नहीं है कि सभा बंद करके उसके संचालकों के नागरिक अधिकारों को अपहरण करलें; वरन् उनका कर्तव्य यह है कि शान्ति भंग करने वालों का यथेष्ट दमन करने के लिये पुलिस या सेना का समुचित प्रबन्ध करें, जिससे आवश्यकतानुसार काम लिया जा सके।

निदान, केवल मैजिस्ट्रेट की आज्ञा से ही, कोई वैध और शान्त सभा अवैध नहीं ठहरायी जा सकती। शासकों को ऐसी सभा भंग करने का अधिकार कदापि नहीं होना चाहिये। और जो गुंडे या बदमाश उस सभा में बाधा डालते हैं, उन्हें कानून के अनुसार दंड मिलना चाहिये। इसके विपरीत यदि उनके भय से शासक ऐसी सभा को भंग कर देंगे तो इससे उनके प्रबन्ध की त्रुटि या उनकी निर्बलता सिद्ध होगी, और

इसका परिणाम राज्य के लिये बहुत घातक होगा, गुंडों और बदमाशों को मनमानी कार्रवाई करने के लिये प्रोत्साहन मिलेगा, कानून का शासन उठ कर उच्छृंखलता और उद्दंडता का राज्य हो जायगा।

सभा भंग करने की स्थिति—अधिकार-सभायें शान्तिमय और सद्भावनाओं से प्रेरित होती हैं। उनसे किसी को हानि नहीं होती, लाभ ही होता है। राज्य को भी उनके विषय में कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु भिन्न-भिन्न राज्यों में कभी-कभी ऐसा अवसर आ जाता है जब कि सभा का लक्ष्य राज्य को उलट देना (Overthrow) हो। सरकार को ऐसे समूह को भंग करने का अधिकार है, जो उसी समय और निश्चित् रूप से तथा अशान्तिमय या हिंसक उपायों से अराजकता का प्रचार करता हो। परन्तु उसे ऐसा करते समय भी, न्यायोचित मर्यादा में रहना अत्यन्त आवश्यक है। ×

अशान्ति दमन-कानून—सार्वजनिक शान्ति में विघ्न डालने वाली सभाओं को भंग करने की आवश्यकता होने पर शासन पुलिस और सेना से काम ले सकते हैं, अशान्ति दमन-कानून (Martial law) का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि शासक अपने इस अधिकार का उपयोग विशेष परिस्थिति में ही करें, और, उचित सीमा में करें। अन्यथा इसका परिणाम वैसा ही या उससे भी अधिक बुरा

× 'Grammer of Politics' के आधार पर।

होगा, जैसा कि उपर्युक्त सभा के होने देने से होता, अशान्ति-दमन कानून ही बहुत अशान्ति प्रदायक बन सकता है। अस्तु, विचारणीय विषय यह है कि इस कानून का नियंत्रण किस प्रकार हो।

इस कानून का नियंत्रण—प्रथम तो यही बात भली भांति स्मरण रखने की है कि बहुत ही जटिल और दुर्दमनीय अवस्था उत्पन्न हुए बिना सैनिक-शक्ति का कभी प्रयोग न किया जाना चाहिये। सैनिक लोग अवसर पाते ही अपने अस्त्रों का प्रयोग करते हैं, और उनके शस्त्र होते हैं बहुत घातक। सैनिक-शस्त्रों का प्रयोग होते ही बहुत से प्राणियों की जान जोखम में पड़ जाती है, जिनमें से अनेक निर्दोष भी हो सकते हैं। एक बार बन्दूकों से गोलियां चलनी शुरू हुई फिर यह कौन कह सकता है कि उनकी मार, छांट-छांट के केवल अपराधियों पर ही होगी? मशीनगन और हवाई जहाजों से बरसते हुए गोले तो और भी अधिक अनर्थकारी होते हैं। शस्त्रों में विवेक बुद्धि तो है ही नहीं। ये तो निर्दोष बालकों, अनाथों, अबलाओं और वृद्धों पर भी भयंकर निर्दयता करके अपनी जड़ता का परिचय देते हैं। और, चूंकि एक भी निरपराधी की हत्या करना या उसे दंड दिया जाना राज्य के लिये अभिशाप स्वरूप है और असाधारण स्थिति के हुए बिना वह कदापि क्षम्य नहीं है, अतः यह स्पष्ट है कि सैनिक-शक्ति का प्रयोग केवल उसी दशा में किया जाना चाहिये, जब सभा

ने भीषण रूप धारण कर लिया हो, उपस्थित लोगों को समुचित रूप से सूचित कर दिया गया हो, और उनसे मातृ-भूमि और कानून के नाम पर तितर-बितर (Disperse) होने के लिये प्रार्थना की जा चुकी हो।

सैनिक-शक्ति का संचालन पूरी सावधानी से होना चाहिये। उदाहरणवत् जब बंदूकें चलायी ही जांय तो पहिले आकाश की ओर चलायी जांय, जिससे किसी को आघात न पहुंचे, केवल साधारणतः भय का संचार हो जाय, पश्चात् बन्दूकों को पृथ्वी की ओर चलाया जाय जिससे गोलियां एकत्रित भीड़ के आदमियों के पैरों में ही लगे। यदि इतने से ही आदमी सभा स्थल से हटने लगे तो शान्ति-पूर्वक उन्हें ऐसा करने का यथेष्ट अवसर मिलना चाहिये। भीड़ से लौटते हुए मनुष्यों पर गोलियां चलाना अनुचित है उसे दंडनीय समझा जाना चाहिये। सैनिक-शक्ति से पीड़ित व्यक्तियों को तथा मृत नागरिकों के संरक्षकों को अपना अभियोग न्यायालय में उपस्थित करने का अधिकार होना चाहिये। इन सब बातों के समावेश पूर्वक यथेष्ट कानून बना रहने तथा उस पर निष्पक्षता पूर्वक अमल होते रहने की अत्यन्त आवश्यकता है।× निदान, अधिकारियों को अपनी शक्ति या उक्त कानून का दुरुपयोग करने का अवसर जितना कम हो उतना अच्छा है।

× ऐसा न होने से विविध देशों में भयंकर हत्याकांडों का दुखदायी अनुभव हुआ है, और, हो सकता है।

सभा भंग करने के अवसर बहुत कम होने चाहिये—हमने सभा भंग करने के विषय में विचार किया है। ऐसा अवसर विशेष दशा में ही आना चाहिये। यदि साधारण दशा में, शासकों को बार-बार सभा भंग करनी पड़ती है, तो स्पष्ट है कि वे नागरिकों के लोकमतानुसार कार्य नहीं कर रहे हैं; उनकी कार्य-पद्धति में तात्विक दोष है। राजतन्त्र रुग्ण अवस्था में है। और नागरिकों की सभायें उस भयानक रोग का बाहरी लक्षण है। ऐसी दशा में राज्य को सभा भंग करके बाहरी लक्षण को मिटा देना मात्र पर्याप्त नहीं है। उन्हें असली रोग के निवारण के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। जिससे उसका लक्षण स्वतः जाता रहे। सभाभंग करने की नौबत ही न आवे।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यदि सभा भंग करने से शासक यह समझते हैं कि लोगों का एकत्र होना और विचार विनिमय करना बन्द हो जायगा, तो अधिकतर दशाओं में उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। आदमी सभा करने से नहीं रुकते, हां सभाओं का स्वरूप और उनके करने की पद्धति में अन्तर आजाता है। वे एक बड़ी सभा के बजाय दस छोटी-छोटी सभायें करते हैं, और एक सभा के समाचार दूसरी के पास पहुँचाते हैं। वे खुल्लम-खुल्ला सभायें न कर सकने पर गुप्त स्थानों का आश्रय लेते हैं। उन्हें असुविधायें और कष्ट होते हैं। पर वे इसे सहन करते हैं। वे

दुस्साहस करते हैं; संकट झेलते हैं। हां, इससे राज्य के प्रति उनका विरोध-भाव और अधिक होता है। यह बात राज्य के लिए अन्ततः अहितकर ही है। इसलिये जहां तक सम्भव हो, नागरिकों के सभा करने के अधिकार की रक्षा होती रहनी चाहिये।

सातवां परिच्छेद

सामाजिक स्वतन्त्रता

"जहां पर कोई श्रेणी, कोई परिवार, या कोई मनुष्य कल्पित दैवी अधिकार से या जन्म (वंश), या धन के कारण दूसरों पर प्रभुता प्राप्त कर लेता है, वहां स्वाधीनता नहीं होती। स्वाधीनता सब के लिए और सब की दृष्टि में होनी चाहिये।"

—जोसेफ मैजिनी

"जो समाज अपनी सत्ता के घमंड में व्यक्तियों के नैसर्गिक अधिकारों को कुचल कर उनको मानसिक परतंत्रता की बेड़ी में कस कर बांधना चाहता है, वह उन को अपना सभासद नहीं, किन्तु शत्रु बनाता है।"

—बदरीदत्त जोशी

साधारणतया लोगों का विचार होता है, कि नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता का सम्बन्ध समाज से होता है, राज्य से नहीं। परन्तु कुछ विशेष विचार करने पर यह सहज ही ज्ञात हो जायगा कि उपर्युक्त कथन कुछ अंश में ही सत्य है, पूर्ण

सत्य नहीं। इस बात को इस परिच्छेद में आगे स्पष्ट किया जायगा। वहां यह भी बतलाया जायगा कि कुछ दशायें ऐसी हैं कि समाज अपने सदस्यों की स्वाधीनता अपहरण कर लेता है, फिर उन व्यक्तियों को राज्य की शरण लेनी पड़ती है, जिससे वह उनके अधिकारों की सम्यग् रक्षा करे। यही कारण है कि सामाजिक स्वतंत्रता के विषय को समाज-शास्त्र के अन्तर्गत मानते हुए भी, इसका एक सीमा तक नागरिक शास्त्र में विवेचन करना आवश्यक है।

नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि वे साधारणतः अपनी इच्छानुसार खानपान, वस्त्राभूषण, रहनसहन आदि रख सकें, उनके विवाह-शादी, उनके बालकों के भरणपोषण, रीतिरस्म, खेलकूद तथा स्वदेश या विदेश में जाने-आने में भी राज्य या समाज की ओर कोई अनुचित बाधा न हो।

सामाजिक स्वतंत्रता सम्बन्धी अन्य बातों का विचार करने से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि मनुष्य और समाज का परस्पर क्या सम्बन्ध है समाज का उद्देश्य क्या होता है, और वह किस अवस्था में कहां तक पूरा होता है।

मनुष्य और समाज—यद्यपि मनुष्य अपने जन्म के समय तथा बाल्यावस्था में निर्बल, अल्पज्ञ और दूसरों के आश्रित या अधीन होता है, उसमें बलवान, ज्ञानवान, और पूर्ण होने की भावना होती है। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता है

उसकी यह भावना बढ़ती जाती है। उसे स्वाधीन होने की आवश्यकता का अनुभव होता है। वह पराधीनता के बन्धनों को तोड़ देना चाहता है। इसी विचार को लक्ष्य में रख कर यह कहा जाता है कि मनुष्य जन्म से स्वाधीन है। वह भौतिक, मानसिक और नैतिक उन्नति का अभिलाषी होता है, इसके लिये उसे अधिक से अधिक स्वाधीनता की आवश्यकता मालूम होती है। इसी लिये वह समाज और राज्य की रचना करता है। परन्तु वह इनके बन्धनों को उस सीमा तक ही स्वीकार करता है, जहां तक वे उसकी उन्नति और विकास में सहायक हों। वह यथाशक्ति इनका भी सुधार और संशोधन करने का इच्छुक होता है। कोई भी समाज कभी पूर्ण नहीं होता, उसमें सदैव परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता होती है, और वे होते रहते हैं। इन परिवर्तनों और सुधारों को मनुष्य ने किया है, इस प्रकार मनुष्य का अधिकार है कि वह किसी समाज या राज्य की तत्कालीन परिस्थिति से न बंधा रह कर उसका यथेष्ट संशोधन करता रहे। वह समाज बिना अच्छी तरह जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, इस लिये उसे कभी समाज या राज्य को विध्वंस करने की कल्पना नहीं करनी चाहिये। परन्तु, चूंकि समाज स्वयं कोई साध्य नहीं है, वरन् व्यक्तियों की उन्नति और विकास के लिये एक साधन मात्र है, इसलिये इस साधन का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि वह अपने उद्देश्य की भली भांति पूर्ति करता रहे। समाज-

रूपी साधन का उपयोग व्यक्तियों के लिये उस सीमा तक ही होना चाहिये, जहां तक वह उनके लिये लाभकारी हो। इसका अभिप्राय यह है कि समाज का व्यक्ति पर जो अधिकार है, उसकी एक सीमा है, उसका अपनी मर्यादा से बाहर होना उचित नहीं। अच्छा, अब यह विचार करें कि व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा क्या है?

समाज और व्यक्ति—इस पुस्तक के आरम्भ में इस बात का उल्लेख होचुका है कि हमारे जीवन के दो भाग किये जा सकते हैं, एक व्यक्तिगत, जिसका सम्बन्ध केवल हम से ही है; दूसरा सामाजिक, जिसका सम्बन्ध समाज के अन्य व्यक्तियों से भी है। अब, यह भलीभांति समझ लिया जाना चाहिये कि हम पर समाज का अधिकार केवल उस सीमा तक ही हो सकता है, जहां तक हमारा जीवन सामाजिक है। अथवा उसका प्रभाव समाज पर पड़ता हो। समाज को हमारे व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप न करना चाहिये। हमें ऐसे कार्य करने में स्वतंत्र रहना चाहिये, जिनसे हमारा ही सम्बन्ध है। हमें अपना भला-बुरा सोचने और तदनुसार कार्य करने देना चाहिये, ऐसा न होना चाहिये कि हमारे लिये प्रत्येक बात समाज के नियमों द्वारा नियंत्रित रहे, और हम पद पद पर अपने तईं उसके बन्धनों से जकड़े हुए पावें।

समाज का उद्देश्य—स्मरण रहे कि समाज की रचना का उद्देश्य यह होता है कि वह लोगों की व्यक्तिगत तथा

सामुहिक उन्नति और विकास में समुचित रूप से सहायक हो। यह उद्देश्य उसी समय तक पूरा होता है, जब तक कि समाज जीवित अर्थात् उन्नतशील हो, वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में हो, व्यक्तियों को विचार-स्वातंत्र्य हो, वे अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनी कार्य-प्रणाली में समय समय पर संशोधन करसकें, वे अंध परम्परा और रूढ़ियों के दास न हों।

जीवित तथा उन्नतशलि समाज सदैव महत्व-पूर्ण सार्वजनिक तथा उपयोगी प्रश्नों पर ही ध्यान देता है। उदाहरणार्थ वह विचार करता है कि कोई व्यक्ति दूसरों के प्रति कैसा व्यवहार करता है, वह अन्याय या विश्वासघात द्वारा किसी की हानि तो नहीं करता, अथवा अपने दुश्चरित्र से दूसरों के लिए बुरा उदाहरण तो उपस्थित नहीं करता।

अवनत समाज—इसके विपरीत अवनत अवस्था का समाज अपनी शक्ति क्षुद्र कार्यों में व्यय किया करता है, वह व्यक्तियों के रोजमर्रा के कामों में अनावश्यक बाधायें डालता है, और अपने वास्तविक उद्देश्य को पूरा नहीं करता। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि भारतवर्ष में कुछ समाजें अपने क्षेत्र के व्यक्तियों के विषय में इस प्रकार के बन्धनों का ही विचार किया करती हैं कि उन्हें अमुक व्यक्ति के हाथ का बनाया हुआ भोजन खाना चाहिये, अमुक स्थान में या अमुक व्यक्तियों के साथ भोजन नहीं करना चाहिये, अमुक जाति में

विवाह करना चाहिये, और शादी, विवाह या जन्म मरण आदि के सम्बन्ध में, इस प्रकार से इतना खर्च या ऐसा व्यवहार करना चाहिये।

समाज सुधार में राज्य का भाग—जब समाज ऐसी अवनत अवस्था में हो तो विचार-स्वातंत्र्य प्रेमी नागरिकों को शीघ्र सुधार का मार्ग अवलम्बन करना चाहिये।

समाज-सुधार के लिए सामाजिक आन्दोलन करना होता है एक सुधार के लिये लेखों, व्याख्यानों तथा उदाहरणों से लोकमत तैयार करना जरूरी है, परन्तु अनेकशः ऐसी स्थिति होजाती है कि राज्य की सहायता विना वह आन्दोलन सफल नहीं होता। अवश्य ही हम इस बात के समर्थक नहीं कि प्रत्येक सामाजिक सुधार के लिये राज्य के नियमों या कानूनों का आश्रय लिया जाय, परन्तु यह भी तो निर्विवाद है कि कुछ दशाओं में राज्य की सहायता अनिवार्य हो जाती है और उसे लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। कुछ उदाहरणों द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण हो जायगा।

कुछ उदाहरण—प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह विवाह के आदर्श तथा उद्देश्य को, तथा अपनी परिस्थिति को ध्यान में रख कर, चाहे तो ब्रह्मचारी रहे या अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी जाति या धर्म के व्यक्ति से विवाह करे। उसके बड़े, बुजुर्ग तथा हितैषी उसे इस विषय में समुचित परामर्श दे सकते हैं। परन्तु उसे इस बात के लिये बाध्य

करना कि वह विवाह अवश्य ही करे, या अपने जीवन का साथी, (पत्नी या पति) किसी खास क्षेत्र से, विशेषतया किसी बहुत संकुचित या परिमित जाति-बिरादरी से ही चुने, सर्वथा अनुचित है।

यदि कोई विधवा या विधुर अपना पुनर्विवाह करना चाहे तो जब तक उनके ऐसा करने से उनकी या सर्व-साधारण की हानि न हो तथा कोई अनुचित उदाहरण उपस्थित न होता हो, तो उनके ऐसा करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जानी चाहिये। जब समाज इस सिद्धांत की अवहेलना करता है, और सुधारकों की बात न सुनकर अपने दुराग्रह पर अड़ जाता है, तो राज्य के द्वारा इस विषय का आवश्यक कानून बन जाना ठीक ही है। इसी प्रकार यदि किसी देश में विवाह सम्बन्धी अन्य कुरीतियाँ प्रचलित हों, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और अनमेल-विवाह या बहु-विवाह की कुप्रथायें भयंकर अनिष्ट कर रही हों, और समाज की ओर से उनकी रोक-थाम न होती हो, तो राज्य को इन्हें कानून बनाकर बन्द कर देना उचित है। इसी प्रकार तपेदिक (क्षय रोग) आदि घातक बीमारियों में ग्रस्त युवक-युवतियों के विवाह न होने देना भी अनुचित नहीं, वरन् उपयोगी है।

भारतवर्ष में समय समय पर सामाजिक विषयों के सम्बन्ध में राज्य के नियम प्रचलित हुए हैं। सती-दाह और कन्या-वध यहां कानून द्वारा ही रोका गया था। पिछले दिनों यहां

इस आशय का कानून बना है कि कम से कम कितनी उम्र के लड़के और लड़कियों के विवाह हो सकते हैं। किसी किसी दशा में राज्य द्वारा विविध अवसरों के जाति-भोज में होने वाले अपरिमित खर्च को भी नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है।

अस्तु, उपर्युक्त विषयों का सम्बन्ध सर्वसाधारण नागरिकों से है। अब स्त्रियों और दलित व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार किया जाता है।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता—'अधिकारों का विषय' शीर्षक परिच्छेद में बताया जा चुका है, कि प्रायः सब देशों में स्त्रियों को बहुत कम अधिकार रहे हैं। अन्यान्य बातों में उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता भी बहुत कम है। यहां तक कि प्रायः उनकी दशा उस रोगी की तरह हो गयी है, जो बहुत दिन तक बीमार पड़े रहने के कारण उसका आदी हो जाय; उसमें यह अनुभव करने की शक्ति ही न रहे कि उसे कोई रोग है, उसके शरीर में स्वास्थ का अभाव है, और उसे उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। समाज के आधे अंश की दशा ऐसी होना, बहुत चिन्ता का विषय होना चाहिये, इस समय कुछ कुछ जागृति हो रही है, तथापि भारतवर्ष आदि देशों में, अभी बहुत कुछ कार्य होना शेष है। यहां उनके उत्थान में समाज सामुहिक रूप से सहायक नहीं हो रहा है, वरन् कहीं तो उनके मार्ग में व्यर्थ के रोड़े अटकाये जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में राज्य को उनके हितार्थ यथेष्ट सहा-

नुभूति दर्शानी चाहिये, जिससे वे उस स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, जो उनके विकास एवं राज्य की उन्नति के लिये आवश्यक है।

दलितों की स्वतन्त्रता—सामाजिक संगठन का आधार समानता से होना चाहिये, समाज में सब व्यक्तियों को अपनी अपनी उन्नति करने का समान अवसर मिलना चाहिये, और सब के साथ उनकी योग्यता के अनुसार, समान व्यवहार होना चाहिये। उनके जन्म या जाति के आधार पर उनके पद या मान आदि में ऊंच नीच का भेद-भाव न होना चाहिये। खेद है कि प्रायः हरएक देश में इसके विपरीत व्यवहार किया जा रहा है। सब जगह दलितों का प्रश्न विद्यमान है। भारतवर्ष आदि कुछ देशों में जाति के विचार से, और अमरीका आदि अन्य राज्यों में वर्ण या रंग के विचार से कुछ आदमी दलित हैं। इन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता प्रायः कुछ भी प्राप्त नहीं हैं, इनका श्रम और शक्ति समाज के अन्य लोगों के उपयोग की वस्तु मानी जाती है। इन्हें अपना विकास करने का अवसर नहीं, मिलता। यही नहीं, उन्हें दैनिक जीवन के अनेक कार्यों में पद पद पर विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ धनाभाव के कारण उनके अपने कुए, विद्यालय, धर्मशाला, मन्दिर, उपवन आदि नहीं होते, और यदि वे सार्वजनिक कुवों आदि का उपयोग करना चाहते हैं तो अन्य नागरिक उन्हें तंग करते

हैं। यहां तक कि कहीं कहीं उन्हें सार्वजनिक सड़कों पर चलने आदि से भी रोकते हैं। ऐसी दशा में राज्य का कर्तव्य है कि अन्य नागरिकों पर, इस विषय में यथेष्ट नियंत्रण रखे, तथा दलितों की सुविधाओं और उन्नति के लिये यथेष्ट साधन प्रस्तुत करे।

वर्तमान परिस्थिति में समाज और राज्य दलितों की उच्चतम सेवा से वंचित रहते हैं। यदि इन्हें सामाजिक स्वतंत्रता यथेष्ट रूप से मिले, और ये अपनी यथाशक्ति उन्नति कर सकें तो न जाने इनमें से कितने व्यक्ति ऐसे निकल आवें, जिनके कारण इनके समाज और राज्य का बहुत कल्याण हो, और जो इनका मस्तक ऊँचा करने वाले बनें।

मादक पदार्थों का सेवन—क्या नागरिकों को स्वेच्छानुसार अफीम, भंग, चरस, शराब आदि मादक पदार्थों के सेवन की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये? ये चीजें किसी किसी बीमारी में दवा के तौर पर भी काम आती हैं, परन्तु इनका अधिकतर सेवन लोग शौकिया करते हैं। उन्हें देखा देखी आदत पड़ जाती है और वे क्रमशः अधिकाधिक नशा करने लगते हैं। इससे उनका धन नष्ट होता तथा शरीर निर्बल एवं विविध रोगों का शिकार बन जाता है। इसलिए अमरीका आदि राज्यों में मादक पदार्थों के उपयोग से होने वाली हानियां सर्व साधारण को भली भांति समझायी जाती हैं, यही नहीं, वहां इनके उपयोग पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता है, इनकी उत्पत्ति

तथा आघात बहुत ही कम होने दी जाती है और नागरिकों को केवल खास बीमारियों के अतिरिक्त साधारण अवसरों पर स्वच्छन्दता पूर्वक सेवन करने की अनुमति नहीं रहती।

इसके विपरीत अनियंत्रित राज्यों में सरकार विशेषतया इस मद से होने वाली आमदनी के लोभ में पड़कर मादक वस्तुओं का खर्च कम कराने के लिए कुछ उद्योग नहीं करती। वह यह तर्क उपस्थित करती है कि सर्वसाधारण में इन वस्तुओं की आवश्यकता है और उसकी पूर्ति करना राज्य का कर्तव्य है, इनकी बिक्री बन्द कर देना इनके सेवन करने वालों की स्वाधीनता में बाधा डालना तथा उन्हें कष्ट पहुंचाना तथा उनके प्रति अन्याय करना है और यह मनुष्यता के विरुद्ध है। कहना नहीं होगा कि यह तर्क अशुद्ध और अनिष्टकारी है। नागरिकों की स्वाधीनता स्वतः कोई साध्य नहीं है, वह तो एक साधन मात्र है, जिसका लक्ष्य है नागरिकों के जीवन की उन्नति और उनकी शारीरिक मानसिक आदि शक्तियों का विकास। जो स्वाधीनता इसमें बाधा डालती है, वह कभी मान्य नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार नागरिकों में नशेबाज़ी बिल्कुल बन्द करने का प्रयत्न होना चाहिये। हां, जो नागरिक इस दुर्व्यसन में बुरी तरह फंस चुके हैं, उनका एक दम इससे छुटकारा पाना कठिन है, उन्हें अपना क्रमशः सुधार करने के लिए कुछ मोहलत दी जा सकती है। अस्तु, प्रत्येक दशा में, वास्तविक लक्ष्य को ध्यान में रखा जाना चाहिये।

बालकों का भरण-पोषण आदि—प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह अपने बालकों की हित-चिन्तना करता हुआ उनका भरण-पोषण जिस तरह उचित और उपयोगी समझे, करे; और राष्ट्रीय, सरकारी, अर्ध सरकारी आदि जिस प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं में चाहें प्रवेश कराके उन्हें धार्मिक, साहित्यिक या औद्योगिक आदि शिक्षा दिलायें। इसी प्रकार उनके स्वास्थ्य, मनोरंजन, आदि के लिये विविध प्रकार के साधनों की योजना करने में भी वह स्वतंत्र है। दूसरे आदमी उसे परामर्श भले ही दें, परन्तु किसी व्यक्ति को, अथवा समाज को उसके इस कार्य में, जाति, सम्प्रदाय या परम्परा आदि के नाम पर, हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। हां, यदि कोई नागरिक अपने बालकों को बिल्कुल पढ़ाना ही न चाहे तो राज्य इसमें हस्तक्षेप करके उन बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कराने के लिये उसे बाध्य कर सकता है।

यात्रा सम्बन्धी अधिकार—नागरिकों को यह अधिकार है कि वह आवश्यकतानुसार जब कभी और जहां कहीं स्वदेश या विदेश में जाना चाहें, स्वेच्छा-पूर्वक जा सकते हैं*। युद्ध-काल में अथवा अन्य विशेष संकट की बात अलग है। साधारण, शांति की दशा में नागरिकों को विदेशों में कहीं भी जाने

---

* भारतवर्ष में कुछ लोग समुद्र-यात्रा का विरोध करते हैं। पर यह विरोध अब क्रमशः घटता ही जा रहा है।

के लिये पासपोर्ट (Passport) अर्थात् राज्यानुमति मिलने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये ।

जिस राज्य के नागरिक अपने देश के शासन-प्रबन्ध से संतुष्ट नहीं होते, उसे यह शंका रहती है कि प्रभावशाली नागरिक देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर कहीं वहां की जनता को राज्य के विरुद्ध उत्तेजित न करदें, या विदेशों में जा कर उसकी निन्दा न करे । इसलिए उस राज्य को अपने प्रभावशाली नागरिकों को स्वदेश में स्वेच्छा-पूर्वक घूमने की अनुमति देने, या विदेशों में जाने के लिये पासपोर्ट देने में बड़ी हिचकिचाहट होती है । परन्तु इससे उस राज्य की ही अयोग्यता प्रकट होती है । उसे अपने शासन-कार्य की त्रुटियाँ दूर करके अपने नागरिकों को संतुष्ट करने का यत्न करना चाहिये ।

यदि राज्य-प्रबन्ध ठीक है, लोकमत के अनुसार है, तो राज्य को नागरिकों के पर्यटन के सम्बन्ध में कुछ चिन्ता करना ही व्यर्थ है । बुद्धिमान नागरिक उस राज्य के विरुद्ध स्वदेश में जनता को उत्तेजित करने या विदेशों में उसकी निन्दा करने का घृणित कार्य कभी करते ही नहीं, यदि कोई मूर्ख नागरिक ऐसा करे भी, तो सब विचारशीलों की सहानुभूति राज्य के साथ रहने से, उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता । अस्तु, साधारणतः नागरिकों को स्वेच्छानुसार पर्यटन करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये ।

अस्तु, इस परिच्छेद में हमने विविध उदाहरणों द्वारा यह बतलाया है कि नागरिकों को सामाजिक स्वतन्त्रता का कैसा और कहां तक अधिकार होना चाहिये। संक्षेप में कह सकते हैं, कि जहां तक सामुहिक हित का सम्बन्ध हो समाज या राज्य इस विषय में आवश्यकतानुसार नियंत्रण करे, अन्यथा साधारण स्थिति में नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता में यथा-सम्भव कोई विघ्न बाधा न रहनी चाहिये।

आठवां परिच्छेद

धार्मिक स्वतंत्रता

"जब तक धर्म उत्तम नागरिक उत्पन्न करता है, वह बहुत ठीक है, परन्तु जब वह दूसरों की स्वाधीनता में बाधा डालता है, उस समय वह बड़ी घृणास्पद वस्तु बन जाता है।"

—देवदत्त

प्राक्कथन—मनुष्यों का अति प्राचीन काल से, सम्भवतः सामाजिक जीवन के आरम्भ होने के समय से—धर्म से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इस समय भी विविध देशों के अधिकांश आदमी किसी न किसी धर्म को मानने वाले पाये जाते हैं। ऐसे आदमियों की संख्या बहुत कम है जो किसी धर्म के अनुयायी न हो, जो परमात्मा या किसी देवी-देवता, पीर पैगम्बर या अलौकिकशक्ति के किसी न किसी रूप में श्रद्धा और विश्वास न रखते हों। बहुधा उनके धार्मिक विचारों का सम्बन्ध उनके व्यक्तिगत जीवन तक ही परीमित न रहकर, उसका प्रभाव प्रतिदिन होने वाले विविध सामाजिक व्यवहारों पर भी होता है। इसलिये समाज और राज्य को अपने

अन्यान्य नियमों में, धर्म-सम्बन्धी विषयों के भी कुछ नियम बनाने आवश्यक होते हैं; और यही कारण है कि नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों में इस विषय का विवेचन अनिवार्य है।

एक अनिष्टकारी भूल—इस संसार में मनुष्यों का जीवन कैसा सुखमय होता, यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार धार्मिक विश्वास रखता पर उन्हें बलात् दूसरों पर लादने का प्रयत्न न करता। परन्तु, यह हुआ नहीं है। अनेक स्थानों में, समय समय पर, बहुत से आदमियों ने यह समझा कि केवल हमारा धर्म सच्चा है, हम ठीक मार्ग पर हैं, और दूसरे सब गलत रास्ते जा रहे हैं, उनको उस रास्ते से न जाना चाहिये, उन्हें हमारे ही विचारों को सत्य समझना चाहिये। इन लोगों ने निश्चय किया है कि यदि दूसरे आदमी हमारे धर्म में विश्वास न करें तो हमें उनको तरह तरह से सताना और दुख देना चाहिये, तथा छल, बल, लोभ, अत्याचार से जैसे बने, उन्हें इस बात के लिये बाध्य करना चाहिये कि वे हमारे ही मत को मान्य करें। इन लोगों ने यह नहीं सोचा कि हमारे मत में भी कोई त्रुटि हो सकती है, और दूसरे के मत में भी सच्चाई होना सम्भव है, कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह संसार के सब ज्ञान का ठेका नहीं ले सकता।

इसका भयंकर परिणाम—इस प्रकार, जब कुछ सत्ता-धारी बलवान आदमी यह मान लेते हैं कि केवल हमारा ही

धर्म सच्चा है, और सब झूठे हैं, तो इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। संसार का और विशेषतया योरप का इतिहास इसकी प्रबल साक्षी दे रहा है। भिन्न भिन्न देशों में केवल धार्मिक मत भेद के कारण कितने ही नर मेध या कत्ल-आम किये गये, निर्बोध बालक-बालिकाओं को शान्तिमय स्त्रियों और वृद्धों को बुरी तरह सता सताकर मृत्यु के घाट उतारा गया, गृहस्थों की सम्पत्ति का लुट जाना, उनका बे घर का होकर उनका दर-दर मारे-मारे फिरना साधारण घटनायें रही हैं। इन सब व्यक्तियों का अपराध केवल यह था कि इनके धार्मिक विश्वास सत्ताधारियों से भिन्न थे।

आश्चर्य और दुःख की बात है कि जिन महापुरुषों को अब कई कई करोड़ आदमी आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, जिनकी स्मृति मात्र से अनेक आदमी साहस और स्फूर्ति प्राप्त करते हैं, तथा सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहते हैं, उन महापुरुषों को अपने अपने समय में कैसे संकटों का सामना करना पड़ा और वह केवल इसलिये कि वे अपने समकालीन सत्ताधारियों से भिन्न मत के थे, उनके विचार कुछ आगे बढ़े हुए थे। महात्मा सुकरात को ज़हर दिया जाना, मोहम्मद साहब का आत्म-रक्षा के लिये मक्का छोड़कर मदीना आना, हजरत ईसा का शूली पर चढ़ाया जाना, लोगों के अपने अपने धार्मिक विश्वास के मित्याभिमान और अहंकार के ही परिणाम हैं।

उनके समय में आदमी धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को मान्य नहीं करते थे, अब भी बहुत से स्थानों में धार्मिक-स्वतंत्रता की बड़ी कमी है।

धार्मिक-स्वतन्त्रता; इसकी मर्यादा—धार्मिक-स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि नागरिक चाहे जिस अवतार, पीर, पैगम्बर आदि को मानें, या न मानें; मन्दिर या मसजिद आदि में जावें, या घर में ही बैठकर भगवद् भजन करें; वे जब चाहें अपने पुराने मत या मजहब को बदल कर नया धारण करलें। इन बातों में न कोई हस्तक्षेप करे, न भय दिखलाये या किसी प्रकार का प्रलोभन दे। नागरिकों को अपना मत या मजहब मानने की स्वतंत्रता है। हां, उनके अन्य अधिकारों की भांति, धार्मिक स्वतंत्रता की भी समुचित मर्यादा रखी जानी आवश्यक है। किसी नागरिक के धर्म का सम्बन्ध केवल उस नागरिक और परमात्मा से होना चाहिये। वह अपनी बुद्धि से तथा अपने वातावरण के कारण जिस प्रकार के विचार रखना चाहे, रखे। परन्तु उसके किसी विचार के कारण दूसरे नागरिकों की मनोवृत्ति बिगड़ने का अवसर नहीं आने देना चाहिये। उसे यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों में अन्ध श्रद्धा या अन्ध-भक्ति की वृद्धि करे, अथवा दूसरों के अन्ध विश्वासों से अनुचित लाभ उठावे।

राज्य का कर्तव्य—राज्य को चाहिये कि नागरिकों की सामुहिक सुविधाओं का ध्यान रखकर समुचित तथा

निष्पक्ष नियम बनावे। जब धर्म नागरिक जीवन की सुख-शान्ति में बाधक हो या उसकी किसी मांग का नागरिक अधिकारों से संघर्ष हो तो वह देश-हित तथा व्यक्तियों के सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा करे।× परन्तु इसके अतिरिक्त उसे नागरिकों के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यह तो उनका व्यक्तिगत विषय है। राज्य के लिये सब नागरिक समान हैं, तो उन सब के धर्म भी (जहां तक वे नागरिक जीवन के सुखपूर्वक प्रवाह में बाधक न हों) समान होने चाहिये। किसी धर्म विशेष को राज्य की खास सहायता या सहानुभूति मिलना, या किसी खास धर्म के मानने वालों के लिये ऐसे पद आदि सुरक्षित रखा जाना जो उनके समान योग्यता होने पर भी दूसरे धर्मवालों को नहीं मिल सकते, सर्वथा अनुचित है।

प्रायः ये बातें आधुनिक उन्नत और विकसित राज्यों में मान्य होती हैं। तथापि एक बात विचारणीय है। नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त का पूर्णतः पालन करने के लिये यह आवश्यक है कि किसी राज्य में कोई धर्म राज-धर्म

× भारतीय पाठक इस सिद्धान्त को सामने रखकर अपनी धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी समस्याओं—गो-वध और बाजे के प्रश्न आदि पर, विचार करें। हम इन विषयों पर 'भारतीय-राष्ट्र-निर्माण' में विशेष प्रकाश डाल चुके हैं। बाजे के सम्बन्ध में सड़कों के उपयोग का प्रश्न उपस्थित होता है। इस पर आगे विचार किया जायगा।

न हो, सरकार द्वारा किसी धर्म को कोई सहायता न दी जाय और न किसी खास धर्म के कारण किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को कोई लाभ या हानि पहुंचाया जाय। इस आधार-भूत स्थापना का बहुत से उन्नत राज्य भी पालन नहीं करते। उदाहरण के तौर पर इंगलैंड में प्रॉटेस्टेंट ईसाई मत को राज्य-धर्म माना जाता है। वहां प्रत्येक राज्याधिकारी को राज्यारोहन के समय यह शपथ लेनी होती है कि वह प्रौटेस्टेंट मत का ईसाई है। यदि वह रोमन कैथलिक मत का ईसाई या किसी अन्य धर्म का अनुयायी हो तो वह राज्याधिकार से वंचित कर दिया जाता है। इस नियम का सम्बन्ध चाहे थोड़े ही व्यक्तियों से क्यों न हो, इस सिद्धान्त से रोमन कैथलिक ईसाई तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों के वास्ते समानता का व्यवहार नहीं होता; और एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि वहां धार्मिक स्वतंत्रता किसी न किसी अंश में मर्यादित करदी गयी है।

प्राचीन काल में जब कोई धर्म राजधर्म होता था, तो उसके अतिरिक्त अन्य धर्मों को मानने वालों के साथ तरह तरह की बहुतसी सख्तियां की जाती थीं, यहां तक कि उन्हें राज्य में अपना जीवन-निर्वाह करना कठिन होता था। उन्हें हरदम यह शंका रहती थी कि न मालूम कब क्या आपत्ति आ जाय। उसकी तुलना में आजकल बहुत उदारता और सहि-

एणुता है । आशा है, जो थोड़ी सी असमानता विद्यमान है, वह भी जाती रहेगी ।

धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन—प्रत्येक राज्य के नागरिकों के सामने किसी न किसी रूप में धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन की समस्या उपस्थित रहती है। इस विषय में न्याय की बात यह है कि प्रत्येक धर्म वालों को यह अधिकार रहे कि अन्य धर्म वालों को अपने धर्म की श्रेष्ठता समझावें, और उनके चाहने पर ये उन्हें अपने धर्म में मिला सकें। जो लोग दूसरों का धर्म बदलने के लिये जबरदस्ती करते या किसी प्रकार का प्रलोभन देते हैं वे सरासर अपराधी हैं और दंडनीय हैं।

जिस राज्य में नाबालिगों अनाथों और विधवाओं आदि के बलात् धर्म परिवर्तन किये जाने की घटनायें होती हों, वहां इस विषय का समुचित कानून बन जाना आवश्यक है। अच्छा हो यदि प्रत्येक नागरिक के विषय में विश्वस्त रूप से, धार्मिक आचार्यों द्वारा, या सरकारी तौर पर यह दर्ज रहे कि वह किस धर्म में है, अथवा रहना चाहता है। पश्चात् जब वह अपना धर्म बदलना चाहे तो जिस धर्म को त्यागे, तथा जिसे ग्रहण करे, उन दोनों धर्मों के अनुयायियों तथा कुछ अन्य सज्जनों की उपस्थिति में ही उसे अपना धर्म बदलने की अनुमति मिले। अनाथ नाबालिग या विधवायें उसी दशा में अपना धर्म बदल सकें, जब यह प्रमाणित हो जाय कि उन्हें कोई अनुचित

प्रलोभन नहीं दिया गया है। इस में से जो उपर्युक्त व्यवस्था होने के समय विधर्मियों के अधीन हो, उन्हें वहां से लेकर उनके निकट सम्बन्धियों को दिया जाय या उसी धर्म वालों के आनाथालय या विधवाश्रम में प्रविष्ट करा दिया जाय। यदि ऐसा न होसके तो विशेष दशा में राज्य की ओर से उनके भरण-पोषण आदि की उचित व्यवस्था की जाय।×

सार्वजनिक संस्थाओं और सड़क आदि के उपयोग का अधिकार—प्रत्येक नागरिक को—वह चाहे जिस धर्म या मत को मानने वाला हो—अपने राज्य के समस्त न्यायालय, चिकित्सालय, और स्कूल आदि सार्वजनिक संस्थायें और कुये तथा सड़क आदि के उपयोग का समान अधिकार है। जिन चीजों के बनाने और मरम्मत करने के लिये या जिन संस्थाओं के चलाने के लिये राज्य आवश्यक धन सर्वसाधारण द्वारा दिये हुए करों से प्राप्त करता है, उनके उपयोग करने में किसी को कुछ बाधा न होनी चाहिये, चाहे वह किसी भी धर्म या मत का मानने वाला क्यों न हो।

उदाहरणार्थ सड़कें या रास्ते (जो किसी खास व्यक्ति की भूमि में नहीं है) सार्वजनिक हैं, तो ये सर्वसाधारण के लिये खुली रहनी चाहिये। किसी व्यक्ति या बिरादरी विशेष के लिये इनके उपयोग की विशेष सुविधा देकर इनकी सार्वजनिकता नष्ट करनी अनुचित है। प्रत्येक नागरिक अपने

× भारतवर्ष में तबलीग (धर्म-परिवर्तन) और शुद्धि के प्रश्न पर हिन्दू मुसलमानों में जो मनोमालिन्य हैं, वह देश भर के लिये उपर्युक्त आशय का कानून बन जाने से बहुत कुछ दूर हो सकता है।

आवश्यक सामाजिक या धार्मिक कृत्यों के लिये उनका अकेला या समूह में, वहां की अमदरफ्त में बाधा न डालते हुए, उचित उपयोग कर सकता है। किसी को उसके ऐसा करने में बाधा डालने का अधिकार नहीं है। यदि कोई आदमी या समूह उन सामाजिक या धार्मिक कृत्यों को पसन्द नहीं करता, तो उसे चाहिये कि वह उनमें भाग न ले, अथवा वहां उपस्थित न रहे। इससे स्पष्ट है कि सड़कों पर से जलूस निकालना, या बाजा, शंख, घड़ियाल आदि बजाते हुए जाना नागरिकों का सामान्य अधिकार है। उनके किसी विशेष धर्म के अनुयायी होने से इस में कोई अन्तर नहीं आता।*

---

* भारतवर्ष में अनेक धार्मिक कृत्यों में जलूस या बाजे आदि की आवश्यकता होती है, और ये काम नगरों के भिन्न भिन्न भागों में प्रतिदिन होते हैं। कुछ मुसलमान इनसे अपनी नमाज (प्रार्थना) में विघ्न उपस्थित होने की आशंका से यह चाहते हैं कि मसजिदों के सामने (जो अनेक स्थानो में सड़कों के किनारे हैं) ये कृत्य न किये जांय। उन्हें चाहिये कि सार्वजनिक रास्तों से दूर, शहर से बाहर एकान्त स्थान में नमाज पढ़ा करें, और भविष्य में अपनी मसजिदें ही बस्ती से बाहर बनाकर अपनी नागरिकता का परिचय दिया करें।

सड़कों के उपयोग सम्बन्धी यह प्रश्न यहां कई बार अदालत में गया। कई प्रांतों के हाइकोर्टों तथा इंग्लैंड की प्रिवी कौंसिल तक के फैसले से यह सिद्ध होगया है कि जुलूस वैध है; किसी जाति या धर्म के आदमी दूसरी जाति या धर्म के आदमियों का बाजे के साथ जुलूस निकालना बन्द करने का अधिकार उपस्थित नहीं कर सकते।

इस अधिकार की सीमा—नागरिकों के अन्य अधिकारों की भांति इस अधिकार का उपयोग भी एक सीमा तक ही हो सकता है। सड़कों आदि का उपयोग कोई संस्था या समूह इस इरादे से नहीं कर सकता कि दूसरों को चिढ़ावे, कष्ट दे या दैनिक जीवन के साधारण कार्यों में ख्वामख्वाह विघ्न उपस्थित करें। यह बात सदैव स्मरण रखने की है कि नागरिकों को अपने प्रत्येक कार्य में यथासम्भव दूसरे नागरिकों की सुख-सुविधाओं, रुचि और मनोभावों का लिहाज रखना चाहिये। उदाहरणार्थ कोई आदमी सड़क पर, चाहे वह जगह उसके मकान के सामने ही क्यों न हो, पशु-वध नहीं कर सकता; मांस आदि के ठेले बिना ढके बाजार में से नहीं ले जा सकता। इसी प्रकार जिस बस्ती में निरामिषभोजी नागरिक रहते हों, वहां वध किये जाने वाले पशु को सजा कर उसका जुलूस निकालना, नागरिक दृष्टि से निषिद्ध है। पुनः यदि एक आदमी ने किसी की हत्या या अन्य दुष्कर्म किया है, और न्यायालय में उसका अभियोग चल रहा है, या वह अपराधी प्रमाणित हो गया है, तो उसकी जाति बिरादरी या धर्म वालों का, उस अपराधी का जुलूस निकालना अनुचित है। धार्मिक स्वतन्त्रता के आधार पर ऐसे कार्यों के लिये अनुमति नहीं दी जा सकती।

उपसंहार—अस्तु, इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व हम पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहते

हैं कि वे धर्म के व्यापक और उदार अर्थ को ग्रहण करें, और इसी का दूसरों में प्रचार करें। × हमारा धर्म हमारे नागरिक जीवन को सुखमय बनाने वाला होगा, तभी वह वास्तव में 'धर्म' नाम का अधिकार होगा। धर्म की आड़ में क्षुद्र स्वार्थों और कुवासनाओं को सिद्ध करना, धर्म नहीं, बड़ा अधर्म है। दूसरों को कष्ट देना, दूसरों के मान, धन, और जान को क्षति पहुंचाना सदैव ही निन्द्य है, परन्तु जब यह काम किसी धर्माचार्य, या धर्म प्रवर्तक के सन्देश के आधार पर किया जाता है, तो वह बहुत ही घृणित व्यापार बन जाता है। धर्म-प्रचारकों को इस विषय पर समुचित ध्यान देने की आवश्यकता है।

× इस सम्बन्ध में कुछ विचार 'धार्मिक कर्त्तव्य' शीर्षक परिच्छेद में प्रकट किये गये हैं।

नवां परिच्छेद

आर्थिक स्वतंत्रता

काम धन्धा करने की आवश्यकता—प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन-निर्वाह के लिये विविध वस्तुओं की आवश्कता होती है। इनका उत्पादन कुछ अंश तक वह स्वयं कर सकता है और कुछ अंश में उसे दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। बहुधा हम ऐसी वस्तुओं का भी उपयोग करते हैं जो दूसरों की ही उत्पन्न की हुई या बनायी हुई होती हैं। समाज में मनुष्यों का कार्य पारस्पारिक सहयोग से ही चलता है। जब हम दूसरों की सहायता या दूसरों की वस्तुएं लेते हैं, तो उनके बदले में हमें उनकी सहायता करनी या उन्हें उनकी आवश्यकता की वस्तुएं बना कर, या पैदा करके देनी होती है। निदान अपने जीवन निर्वाह के लिये प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ काम धन्धा करना जरूरी है।

आर्थिक स्वतन्त्रता का अधिकार—इसलिये राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति को यह सुविधा और अधिकार मिलना चाहिये कि वह अपने जीवन-निर्वाह के लिये नौकरी, व्यापार, खेती या मजदूरी आदि जो काम उसे उचित जान

पड़े, करे। × जब उसका मन चाहे, वह अपने पहिले धन्धे को छोड़कर दूसरा उसी प्रकार का या किसी नयी तरह का कार्य आरम्भ करदे। वह किसी कार्य को करने या छोड़ने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह, यदि उसका किसी संस्था या कारखाने आदि से सम्बन्ध है, और जिस कार्य को वह पहले करता आ रहा है, उसे एक दम छोड़ देने से दूसरों की हानि की सम्भावना है तो उसे अपने उच्च अधिकारियों को नियमानुसार एक माह या कुछ कम ज्यादह समय पहले इस विषय की सूचना दे देनी चाहिये। साधारणतया समाज में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार प्रतिफल मिले, यथाशक्ति परिश्रम करने वाले व्यक्ति को अपने, तथा अपने आश्रित परिवार के व्यक्तियों के निर्वाह के यथेष्ट साधन तथा अपनी उन्नति के समुचित अवसर अवश्य मिल सकें। साथ ही, समाज में कोई व्यक्ति ऐसा न होना चाहिये जिसे बिना परिश्रम किये ही खाने-पहिनने और मौज उड़ाने के सब साधन सुलभ हों। इस बात को यों कहा जा सकता है कि बोने की सब को स्वतन्त्रता रहे, जो जैसा बोये, वह वैसा काटे; जो व्यक्ति कुछ न बोये, उसे काटने का भी अधिकार न रहना चाहिये।

× हां, वह कोई ऐसा काम न करे, और न कोई ऐसी वस्तु तैयार करे जिससे दूसरों का स्वास्थ्य बिगड़े या कुरुचि उत्पन्न हो।

इस सिद्धान्त की अवहेलना—साधारण दृष्टि से तो उपर्युक्त बातें ऐसी सामान्य प्रतीत होती हैं, कि इनके उल्लेख करने की आवश्यकता ज्ञात न होती होगी; फिर इन्हें स्पष्ट करने या इन पर कुछ तर्क-वितर्क होने की बात तो अलग रही। परन्तु तनिक विचार करने पर यह ध्यान में आ जायगा कि व्यवहार में इन बातों का कितना उलंघन किया जा रहा है। कहने को आजकल दासता या गुलामी नहीं रही, परन्तु फिर भी संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों में यह बनी ही हुई है। बहुत से सभ्य कहे जाने वाले देशों में भी प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा विद्यमान है। साधारण भोले भाले आदमियों को धोखा या प्रलोभन देकर निर्धारित समय तक काम करने के लिये सहमत कर लिया जाता है। फिर उन्हें चाहे जो कष्ट या असुविधायें हों, उन्हें अपना कार्य छोड़ने की अनुमति नहीं होती। यदि वे छोड़ने का प्रयत्न करें तो कानून का फन्दा उनके लिये तैयार रहता है।

दलित-जातियों के आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध भी खास-खास काम करने के लिये विवश होते हैं। कहा जाता है कि समाज की सुव्यवस्था के लिये यह आवश्यक है, इस-लिये इन दलितों को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। भला विचार करने की बात है समाज के एक इतने बड़े अंग को इस प्रकार पराधीन बनाये रखना कैसे न्यायोचित कहा जा सकता है। फिर, जिन देशों में दलित जातियां नहीं हैं,

सब को अपना कार्य करने की स्वतन्त्रता है, क्या वहां समाज का कार्य नहीं चलता ? अतः सामाजिक सुव्यवस्था का नाम लेकर किया जाय या प्राचीन रूढ़ि आदि की दुहाई दी जाय, अन्याय वास्तव में अन्याय ही है । इसे दूर किया जाना चाहिये ।

पुनः अनेक किसान और मज़दूर दिन-रात परिश्रम करके भी खाने-पहिनने के लिये काफी नहीं पाते। और, बहुत से आदमियों को जीवन-निर्वाह के लिये ही इतनी शक्ति और समय खर्च कर देना पड़ता है कि उन्हें फिर अपनी उन्नति या विकास करने का कुछ अवसर ही नहीं मिलता। वे स्वतन्त्र रूप से न किसी विषय का विचार कर सकते हैं, और न कोई कार्य ही करने में समर्थ होते हैं। ऐसी दशा में उनकी सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता कैसे रह सकती है, और वे समाज या राज्य का क्या हित-साधन कर सकते हैं ?

इसके विपरीत कुछ जमींदार, महन्त या पूंजीपति आदि प्रत्येक राज्य में ऐसे भी देखने में आते हैं, जिन्हें अपने निर्वाह के लिये प्रायः कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। उनकी अधीनता में दूसरे आदमी पसीना बहाते रहते हैं, और वे बैठे मौज मारते हैं। ये मुफ्त के खाने वाले, अपनी धन-सम्पत्ति की बदौलत समाज और राज्य में मनचाही प्रतिष्ठा

और आदर के भागीदार बने रहते हैं; यही नहीं, ये समाज और राज्य का सूत्र इस तरह चलाने में बहुत कुछ समर्थ हो जाते हैं कि उनके नियमों से इनके स्वार्थों की रक्षा और वृद्धि होती है, और ये आलसी और निकम्मे बने रहते हैं; इसके विपरीत अन्य आदमियों को उठने या उन्नति करने का अवसर नहीं मिलता।

आर्थिक पराधीनता का कारण—इस प्रकार, आर्थिक स्वतंत्रता न रहने से व्यक्तियों का यथेष्ट विकास नहीं होता; और समाज और राज्य की अपरिमित हानि होती है, वे अपने आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकते। अच्छा; मनुष्यों की आर्थिक पराधीनता को किस प्रकार हटाया जा सकता है? विचार करने से, इस आर्थिक पराधीनता का मूल कारण यह मालूम होता है कि कुछ व्यक्तियों ने धनोत्पत्ति के साधनों पर अपारिमित अधिकार प्राप्त कर लिया है, उन्होंने दूसरों के न्यायोचित स्वत्वों को छीन लिया है। और समाज ने इस व्यवस्था को मान्य कर रखा है।

विचारणीय बातें, भूमि और परिश्रम—इस परिस्थिति का सुधार करने के लिये कई बातें विचारणीय हैं। पहले धनोत्पत्ति के साधनों पर विचार करते हैं। इनमें मुख्य भूमि और परिश्रम हैं; मूल धन आदि गौण है। भूमि प्रकृति-दत्त है। इस पर सब का समान अधिकार होना चाहिये। जो आदमी जितनी भूमि जोते-बोये, उसे समाज के लिये अधिक उत्पादक

बनाये। उतनी ही पर उसका स्वत्व रहना उचित है। परन्तु होता क्या है? अनेक आदमी इस प्रकार का कुछ कार्य न कर विस्तृत भूमि के स्वामी बने हुए हैं। वे उस जमीन को खेती आदि के लिये औरों को दे देते हैं, और स्वयं लगान की आमदनी पर मौज उड़ाते हैं। यद्यपि इनकी आमदनी में से राज्य को भी अच्छा हिस्सा मिल जाता है, तथापि इनके पास काफी रह जाता है। जिन आदमियों में लगान देने की क्षमता नहीं होती, या जिन आदमियों के पास जमीन नहीं है, वे जहां-तहां कारखानों में या दफ्तरों आदि में नौकरियों की खोज में फिरते रहते हैं और बहुधा बड़े बड़े कष्ट पाते हैं। इस परिस्थिति में सम्यग् सुधार होने की आवश्यकता है।

पुनः समाज में श्रम की महत्ता का सिद्धान्त मान्य होना चाहिये। जो आदमी परिश्रम करे, समाज के लिये कोई उपयोगी वस्तु बनाये या मानसिक कार्य करके समाज की उन्नति में सहायक हो, उसे ही समाज में रहकर विविध मनुष्यों के सहयोग से बनाई वस्तुओं के उपयोग का अधिकार होना चाहिये। अन्य मनुष्यों को काम से जी चुराने वालों को, आलसियों को—इस प्रकार अधिकार न होना चाहिये।

बेकारी कम करने का उपाय—साथ ही परिश्रमी मनुष्यों को अभाव या बेकारी की चिन्ता न होनी चाहिये। उन्हें निरंतर यही सोचते रहने को बाध्य न होना चाहिये कि कल खाने-पीने को मिलेगा या नहीं; क्योंकि ऐसी दशा में वे

अपनी तथा समाज की उन्नति करने के साधनों से वंचित हो जायंगे। इस समय संसार के भिन्न-भिन्न राज्यों में लगभग दो करोड़ आदमी बेकार हैं। इससे इस प्रश्न की जटिलता का विचार किया जा सकता है। बेकारों की सुविधा के लिए कुछ देशो में दरिद्रालय खुले हुए हैं, या बेकारी का बीमा होने की व्यवस्था है जिसके अनुसार बेकार होने वाले आदमी को कुछ ऐसा निर्धारित द्रव्य मिल जाता है, जिससे उसका निर्वाह हो सकता है। इन बातों से बेकारी रूपी रोग का कुछ अंश में इलाज होता है—और जहां तक यह हो सके अच्छा ही है—परन्तु इससे मूल रोग का निवारण नहीं होता।

बेकारी को निवारण करने के लिये इसके मूल कारणों पर विचार करना होगा। और, ये मूल कारण धनोत्पादन विधि में ही विद्यमान हैं। आजकल बड़े पैमाने से, यंत्रों द्वारा आवश्यक पदार्थ तैयार किये जाते हैं, जो काम पहले हजार आदमी अपने अपने घर में हाथों से कर सकते थे, अब यंत्रों की सहायता से कारखानों में केवल दस आदमी कर सकते हैं, और वैज्ञानिकों प्रगति से यह सर्वथा सम्भव है कि आगे वह काम एक दो आदमियों से ही हो सके। जितने आदमी कारखानों से खाली होते जाते हैं; उनमें बहुत थोड़ों को नये कारखानों में या अन्यत्र नया काम मिल पाता है। इस प्रकार वर्तमान धनोत्पादन विधि के रहते बेकारी का रोग दूर होने की आशा

नहीं। इसलिये आवश्यक है कि यंत्रों द्वारा बड़े पैमाने पर धनोत्पादन करने की प्रवृत्ति को नियंत्रित किया जाय; दस्त-कारियों और कारीगरियों को उत्तेजन दिया जाय। क्या वर्तमान सभ्यता में राज्य और समाज इसके लिये तैयार हैं?

श्रमजीवियों का वेतन और उनके काम के घंटे—आर्थिक स्वाधीनता के सिद्धांत के अनुसार यह आवश्यक है कि, मनुष्यों को अपने परिश्रम का यथेष्ट प्रतिफल मिले। वेतन की दर सदैव के लिये निर्धारित नहीं की जा सकती, और न यही कहा जा सकता है कि सब को समान वेतन मिलना ठीक होगा। परन्तु यह आवश्यक है कि समाज में कुछ आदमियों के पास अत्याधिक होने से पूर्व, सब आदमियों को इतना तो अवश्य मिल जाय जिसमें उनका साधारण रहन-सहन के दर्जे के अनुसार निर्वाह हो सके और इन्हें स्वास्थ्य और मनोरंजन आदि के लिये आवश्यक विश्राम मिल सके। इस विचार को लक्ष में रखकर, भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करने वालों का न्यूनतम वेतन जो देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा—कानून द्वारा निर्धारित होते रहना आवश्यक है। उपर्युक्त रहन-सहन के दर्जे का विचार कुछ निष्पक्ष और विकार रहित सदस्यों द्वारा होना चाहिये।

इस प्रसंग में काम करने के घंटों का भी विचार हो जाना आवश्यक है। इस विषय में ध्यान में रखने की बात यह है कि जिस व्यक्ति को सोचने विचारने का अवकाश नहीं मिलता,

जो दिन-रात खाने-पहनने के लिये मेहनत-मजदूरी करने में ही लगा रहता है, वह अपनी शक्तियों का समुचित विकास या उपयोग नहीं कर सकता, वह समाज या राज्य की यथेष्ट सेवा नहीं कर सकता और इस प्रकार वह अपना नागरिकता का कर्तव्य-पालन करने में असमर्थ रह जाता है। आजकल साधारण शारीरिक कार्य करने वालों के लिये प्रतिदिन सात-आठ घंटे और मानसिक कार्य करने वालों के लिये चार से छः घंटे तक कार्य करना उचित समझा जाता है। अच्छा हो यदि भविष्य में सभ्यता की वृद्धि से लोगों को अपना पेट पालने के काम में इतना भी समय देने की आवश्यकता न रहे और अधिकाधिक समय अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिये निकाल सकें।

धनोत्पादन में नागरिकों के अधिकार—इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि श्रम करने के सम्बन्ध में नागरिकों को कुछ अधिकार होना चाहिये या नहीं। क्या वे केवल उन आज्ञाओं को पालन करने वाले बने रहें जो उन्हें अपने उच्च अधिकारियों द्वारा प्राप्त हों? क्या उच्च अधिकारियों को समय समय पर श्रम सम्बन्धी नियमों के बनाने में श्रमजीवियों के प्रतिनिधियों का परामर्श न लेना चाहिये? हम समझते हैं कि जिस प्रकार नागरिकों को राज्य-सम्बन्धी नियमों के निर्माण के लिये अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है; कुछ कुछ उसी रूप में श्रम-सम्बन्धी नियमों के विषय में श्रमजीवियों

के प्रतिनिधियों के परामर्श का उपयोग हो तो आज कल के बहुत से विवाद-ग्रस्त विषयों का सहज ही निपटारा हो सकता है, हड़ताल और द्वारावरोध के अवसर कम हो सकते हैं और मालिक और मजदूरों का पारस्परिक मतभेद बहुत कुछ हट सकता है। मजदूरों के प्रतिनिधियों का सहयोग होने पर कारखानों सम्बन्धी जो नियम बनेंगे वे श्रमजीवियों के लिये इतने असुविधा-जनक न होंगे, उनका पालन सुगमता से, और कुछ अंश में इच्छा-पूर्वक कर सकेंगे। इसलिये औद्योगिक कार्यों में श्रमजीवियों का यह अधिकार मान्य करना, और इसे क्रमशः बढ़ाना उचित ही होगा। इससे धनोत्पत्ति में बाधा पहुँचने की आशंका करना निर्मूल है; और कदाचित इससे धनोत्पत्ति कुछ कम हो भी जाय तो उसकी अपेक्षा, इससे नागरिकों की उन्नति में जो सहायता मिलेगी, वह कहीं अधिक मूल्यवान है।

ऊपर जो बात शारीरिक श्रम के सम्बन्ध में कही गयी वह बात मानसिक श्रम के विषय में भी अधिक चरितार्थ होती है। इसलिये सम्पादकों, अध्यापकों, क्लर्कों आदि को भी अपने विभाग सम्बन्धी नियम निर्माण में यथा-सम्भव प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाना चाहिये।

सम्पत्ति पर व्यक्ति और समाज का अधिकार—इस परिच्छेद में इस बात पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है कि किसी राज्य में जो सम्पत्ति उत्पन्न होती है, उस पर कहां

तक व्यक्तियों का अधिकार है, और किस सीमा तक समाज को। यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति जो धनोत्पत्ति करते हैं, वह समाज के सहयोग से ही करते हैं; समाज की सहायता बिना धन की वृद्धि या रक्षा होनी असम्भव है। उपार्जित सम्पत्ति पर व्यक्ति या सम्पत्ति का कितना अधिकार रहे, इस का विचार करने में हमें यह सोचना चाहिये कि किस दशा में व्यक्ति और समाज का कहां तक हितसाधन होता है। विचार करने पर मालूम होता है कि दोनों दशाओं में कुछ-कुछ गुण हैं तो कुछ दोष भी हैं।

यदि सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार रहता है तो कुछ व्यक्ति जरूरत से अधिक धनवान अर्थात् लखपति, करोड़पति हो जाते हैं, और दूसरे बिल्कुल निर्धन रहजाते हैं। धनवान, पूंजीपति, जमींदार या महन्त आदि समाज या राज्य के लिये कोई उत्पादक कार्य नहीं करते, वरन् अपनी विलासिता, शौक और ऐश्वर्य से अन्य नागरिकों के लिये बुरा उदाहरण उपस्थित करते हैं। साथ ही जब उनकी सम्पत्ति उनके उत्तराधिकारियों को बिना परिश्रम किये प्राप्त होजाती है, तो वे भी उनकी तरह आलसी और मुफ्त की खाने वाले बन जाते हैं। श्रम की महत्ता का—जो समाज के लिये संजीवनी शक्ति का काम देती है—लोप हो जाता है। इसके विपरीत अनेक निर्धन आदमी अपनी भोजन, वस्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाते, उनका एक प्रकार से मनुष्यत्व और नष्ट

हो ही जाता है, उनकी विविध शक्तियों के विकास का मार्ग बिल्कुल बन्द हो जाता है।

अब, कल्पना करो कि सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार न होकर, समाज का हो। इस दशा में सब व्यक्तियों का अधिकार समान होजायगा। धन वितरण की विषमता से होने वाली उपर्युक्त हानियाँ न रहेंगी। परन्तु क्या यह समता बहुत समय तक रहेगी? क्या यह स्वाभाविक है? जैसे प्रकृति में छोटे बड़े, निर्बल बलवान होते हैं, वैसे ही मनुष्यों में कुछ कम योग्य और कुछ अधिक योग्य होते हैं, सब को उनके परिश्रम से प्राप्त सम्पत्ति में समान अधिकार मिलना कहां का न्याय है? जब आदमी देखेंगे कि सम्पत्ति के वितरण में ऐसा अन्याय होता है, कम पैदा करे, या ज्यादह मिलेगा उतना हो, तो फिर कुछ बहुत ऊंचे विचार और आदर्श वाले व्यक्तियों को छोड़कर क्या सर्वसाधारण धनोत्पत्ति के कार्य में बहुत कुछ उदासीन न होजांयगे? वे अपनी विशेष योग्यता या शक्ति का उपयोग क्यों करेंगे? क्या इससे व्यक्तियों के व्यक्तित्व का ह्रास न होगा?

निदान दोनों मतों में से किसी एक से यथेष्ट फल सिद्धि नहीं होती। आवश्यकता है कि दोनों के दुर्गुणों से बचते हुए उनसे यथासम्भव लाभ उठाया जाय।

दसवां परिच्छेद

शिक्षा

"सिद्धान्त त्यागने वालों की निन्दा की जाती है। पर हम यह नहीं ताड़ते कि यह दोष उनके स्वभाव का नहीं है, किन्तु यह वह दुर्बलता है जिसे मिटाने के लिये उन्हें शिक्षा नहीं मिली और न उन्हें आत्म-संयम का ही अभ्यास कराया गया।

—**स्वाधीनता के सिद्धान्त**

कुछ सज्जनों का मत है कि नागरिकों को आवश्यक शिक्षा देना राज्य का कर्तव्य ही है, और प्रायः उन्नत राज्य में यह कार्य होता ही है, अतः इसे नागरिक अधिकारों में सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्पष्टीकरण के लिये हम इसका उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। और, जैसा अगले पृष्ठों को अवलोकन करने से ज्ञात होगा, इस सम्बन्ध में कई बातें बहुत विचारणीय हैं।

नागरिक और शिक्षा—नागरिकता चाहती है कि हम सार्वजनिक हित के लिये, राज्य में उपस्थित होने वाले विविध

प्रश्नों पर अपनी समुचित सम्मति दिया करें। हम इस बात पर प्रकाश डालें कि किन किन बातों से राज्य की उन्नति हो सकती है, हमारी, नागरिक के नाते क्या आवश्यकतायें हैं, उनकी राज्य को किस प्रकार पूर्ति करनी चाहिये। भिन्न-भिन्न विषयों में हमारा क्या अनुभव है। जो आदमी यह प्रकट नहीं कर सकता, वह अपना अधिकतम विकास कर सकता है, और न राज्य के लिये यथेष्ट उपयोगी बन सकता है।

नागरिक शिक्षाका का आदर्श—इसका यह आशय नहीं कि सब नागरिकों को मानासिक शिक्षण (Training) समान रूप से प्राप्त करने का अधिकार है। तथापि यह अवश्य है कि कुछ शिक्षा ऐसी है, जो प्रत्येक नागरिक को मिलनी ही चाहिये। यह न्यूनतम शिक्षा इतनी होनी चाहिये कि नागरिक भिन्न विषयों में अपना भला-बुरा सोच सके, जब किसी बात के दो या अधिक पक्ष उसके सामने आवें, तो वह उनके बारे में अपना उचित निर्णय दे सके तथा उनके सम्बन्ध में अपना कर्तव्य स्थिर कर सके। शिक्षा से नागरिकों में राष्ट्रीयता के भाव बढ़ने चाहिये, उनमें साम्प्रदायिकता या मत-मतान्तर के भेद-भाव न रहने चाहिये। उन्हें जानना चाहिये कि वे किसी धर्म या जाति-विशेष के लिये कदापि नहीं हैं; और पूर्णतः अपने लिये भी नहीं हैं। वे हैं अपने लिये, और राज्य के लिये। अतः वे अपनी उन्नति और विकास करने के साथ, राज्य से प्रेम करें, राज्य की सेवा करें, उसके लिये जियें, और

आवश्यकता होने पर उसके लिये प्राण देने को भी तत्पर रहें। तभी वे वास्तव में नागरिक कहे जा सकते हैं।

भिन्न-भिन्न राज्यों के नागरिकों की इस दृष्टि से परीक्षा करने से मालूम हो सकता है कि उपर्युक्त बात केवल आदर्श रूप से ही रह जाती है; उसके अनुसार व्यवहार नहीं मिलता। नागरिकों को जैसी और जितनी शिक्षा मिलनी चाहिये, उसमें प्रायः सर्वत्र भारी कमी है।

प्रारम्भिक शिक्षा—वर्तमान काल में राज्यों का ध्यान प्रायः केवल साहित्यिक शिक्षा की ओर है। उन्हें यही मान्य है कि नागरिकों को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, इस शिक्षा के लिये, वे निःशुल्क व्यवस्था करते हैं। अधिकतर नागरिक भी इससे संतुष्ट हो जाते हैं। अस्तु, अब इस विषय में मतभेद नहीं है कि जिन नागरिकों को साधारण लिखना पढ़ना भी नहीं आता वे अपने राज्य की अवनत दशा के स्थूल प्रमाण हैं। इसलिये प्रत्येक विकसित राज्य नागरिकों की आवश्यकता के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और संचालन करता है, और जब नागरिक राज्य के किसी भाग, नगर या ग्राम में इन संस्थाओं की कमी या अभाव का अनुभव करते हैं तो वे इसके विषय में यथेष्ट आन्दोलन करते हैं।

अन्यान्य देशों में, इसका अच्छा उदाहरण इंगलैंड में मिलता है। वहां के निवासियों ने प्रारम्भिक शिक्षा के इस

महत्व को भली भांति समझ लिया है। यही कारण है कि जब कभी जरा भी यह आशंका होती है कि सरकार शिक्षा कार्य में तनिक पीछे हटना चाहती है, तो वहां का राष्ट्रीय जीवन ऐसा अशान्त हो जाता है मानों वहां के नागरिकों के भोजन, वस्त्र आदि के समान किसी अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी वस्तु की प्राप्ति में विघ्न पड़ रहा हो, वे लोग सभाओं, व्याख्यानों, लेखों आदि के द्वारा अपने मानसिक उद्वेग को राज्य के प्रति ऐसे स्पष्ट रूप में प्रगट कर देते हैं कि अधिकारियों को इस ओर समुचित ध्यान देना ही पड़ता है। यह बात प्रत्येक राज्य के नागरिकों के लिए विचारणीय एवं शिक्षाप्रद है।

उच्चशिक्षा—स्मरण रहे कि नागरिकों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिये तो समुचित व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है, परन्तु उच्चशिक्षा की व्यवस्था वह करे या न करे, उसका उस पर उत्तरदायित्व नहीं है। प्रायः उन्नत राज्यों के नागरिकों में शिक्षा के प्रति ऐसा प्रेम रहता है कि वे स्वयं उसकी समुचित व्यवस्था कर लेते हैं, वे अपनी संस्थाओं को राज्य के नियंत्रण में नहीं रखते। यदि आवश्यकता हो तो वे सरकारी सहायता लेना स्वीकार कर लेते हैं, इस दशा में उन्हें राज्य के कुछ नियमों का पालन करना होता है, तथापि राज्य उनमें विशेष हस्तक्षेप नहीं करता। हां, सरकारी सहायता उन्हीं संस्थाओं को मिलती है जो किसी मत या सम्प्रदाय विशेष की

शिक्षा न देती हो, अथवा केवल उस धर्म की शिक्षा देती हो जो वहां का राजधर्म मान लिया गया हो। * मत विशेष की शिक्षा देने वाली संस्थाओं को अपना पाठ्य-क्रम आदि ऐसा उपयोगी और आकर्षक रखना होता है कि वे सर्व-साधारण की यथेष्ट सहानुभूति प्राप्त कर सकें और उनकी सहायता से अपना खर्च बखूबी चला सकें।

भारतवर्ष की स्थिति—भारतवर्ष में सरकार की ओर से स्थापित और संचालित शिक्षा-संस्थायें, यहां की जन-संख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से, बिल्कुल कम है। सरकार कुछ संस्थाओं को सहायता भी देती है। तथापि सब मिलाकर सरकार का इस कार्य में व्यय बहुत थोड़ा है। यद्यपि प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं, अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों आदि को सौंपा गया है, और वे यथाशक्ति प्रयत्न भी कर रही हैं, परन्तु धनाभाव के कारण उनसे भी यथेष्ट कार्य नहीं होता। इस विषय में बहुत ध्यान दिये जाने तथा खर्च किये जाने की आवश्यकता है। पुनः यह भी विचारणीय है कि यहां अभी मत-मतान्तर का भाव बहुत अधिक है। जब सरकार एक मत की शिक्षा देने वाली संस्था को सहायता देती है, तो दूसरे मत विशेष की शिक्षा देने वाली संस्थायें भी सहायता मांगती हैं। इन भिन्न-

---

* किसी धर्म को राजधर्म माना जाना, अन्य धर्म वालों के लिये असन्तोष-प्रद होता है।

भिन्न संस्थाओं में यथेष्ट सहानुभूति नहीं होती, और न इनसे निकलने वाले युवकों में ही समुचित राष्ट्रीयता के भावों का उदय होता है। अतः जहां तक सम्भव हो, ऐसी संस्थाओं को ही सरकारी प्रोत्साहन मिलना चाहिये कि जिनका दरवाजा सब विद्यार्थियों के लिये समान रूप से खुला हो।

धन का प्रश्न—प्रारम्भिक शिक्षा का यथेष्ट प्रचार करने, तथा भारतीय भाषाओं में माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिये यथेष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार कराने के लिये भारत-सरकार धनाभाव की शिकायत किया करती है। भारत-सरकार के किन-किन कामों में आवश्यकता से अधिक खर्च होता है, तथा उनमें कितनी किफायत हो सकती है, इस विषय का विचार हमने अपने 'भारतीय राजस्व' में किया है। यहां हमें केवल यही वक्तव्य है कि नागरिकों के लिये शिक्षा जैसा आवश्यक कार्य धनाभाव के कारण चिरकाल तक रुका नहीं रहना चाहिये। इस सम्बन्ध में अन्य देशों से शिक्षा ली जानी चाहिये। उदाहरणार्थ, आस्ट्रिया में अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा होने के कारण राज्य को हर एक ग्राम और नगर में भिन्न-भिन्न जातियों के लिये, भाषा के अनुसार, भिन्न-भिन्न विद्यालय बनाने में जो व्यय करना पड़ता होगा, उसका अनुमान पाठक लगा लेवें। पर स्वतन्त्र देशों में स्वतन्त्रता के सामने धन गौण वस्तु समझा जाता है, स्वतन्त्रता की सम्यग् रक्षा करने

से धनागम का मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जाता है। समस्त राज्यों को इस तत्व को भली भांति ग्रहण करना चाहिये।

शिक्षा का माध्यम—शिक्षा का माध्यम देश की—नागरिकों की—भाषा होनी चाहिये, यह ऐसी बात है, जिसकी साधारण स्थिति में कहने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु दुर्भाग्य से जब साधारण स्वाभाविक स्थिति न हो, तब इसे कहना आवश्यक ही है। भारतवर्ष में माध्यमिक शिक्षा में भी अंगरेजी का उपयोग किया जाता है, उच्चशिक्षा तो सर्वथा अंगरेजी में दी जाती है। इससे देश की भाषाओं में यथेष्ट पारिभाषिक शब्द भंडार न होना, आवश्यक पाठ्य-पुस्तकों की कमी, यथोचित योग्यता वाले अध्यापकों का न मिल सकना आदि विविध कारण बता दिये जाते हैं। इन बातों का यथेष्ट तर्क संगत उत्तर दिया जा चुका है; गुरुकुल और विद्यापीठ आदि अनेक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं ने अपने उदाहरण से मार्ग प्रशस्त कर दिया है। तथापि अभी तक सरकार इस दशा में बहुत ही कम ध्यान दे रही है; उसकी नीति-परिवर्तन की बड़ी आवश्यकता है।

शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से विद्यार्थियों को रटना या घोटना बहुत पड़ता है; वे विषय को पूरी तरह समझते नहीं, परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये कुछ बातें कंठ करते हैं। इसमें बहुत सी शक्ति और समय नष्ट होता है। अनेक विद्यार्थियों को पढ़ने से ही घृणा हो जाती है। परीक्षा

में अनुत्तीर्ण होने वालों की संख्या बढ़ती है और अनुत्तीर्ण युवक प्रायः निराशा और चिन्ता का जीवन व्यतीत करते हैं, और कुछ तो उसका अन्त ही कर डालते हैं। विदेशी भाषा में पढ़ने के अस्वाभाविक कार्य से बहुतों की स्वतंत्र चिन्तन की शक्ति नष्ट हो जाती है। उनमें मौलिकता नहीं रहती। उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य में गम्भीर और नवीन विचार नहीं मिलते; केवल दूसरों की नकल मिलती है, और वह भी कभी कभी बहुत भद्दी होती है। इस प्रकार विदेशी भाषा को माध्यम के रूप में कदापि प्रयोग न होना चाहिये। हां, स्वतंत्र भाषा के रूप में अध्ययन की जा सकती है, और यथासम्भव की जानी चाहिये।

नागरिक शिक्षा की आवश्यकता—शिक्षा-पद्धति कैसी होनी चाहिये और वर्तमान प्रणाली में किन किन सुधारों की आवश्यकता है, इसका यहां विस्तार-भय से विवेचन नहीं किया जा सकता। तथापि यह कह देना आवश्यक है कि नागरिकों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे वे राज्य और समाज में अपना उत्तरदायित्व यथेष्ट रूप से निभा सकें। इस बात का ध्यान न केवल विद्यालयों में रखे जाने की आवश्यकता है, वरन् नागरिकों के छात्र-जीवन के पूर्व और पश्चात् भी रखा जाना चाहिये। हमारी शिक्षा-संस्थाओं के संचालक तनिक विचार करें कि उनके सामने शिक्षा का आदर्श तथा लक्ष्य क्या है? क्या यह संतोषप्रद है कि उनकी संस्थाओं से प्रति

वर्ष कुछ ऐसे नवयुवक प्रमाण-पत्र या डिग्री, डिप्लोमा आदि लेकर निकल जाया करें, जिनके शरीर, मन और आत्मा बहुत कुछ विकृत हों, जो न अपना कर्तव्य समुचित रूप से पालन करते हों, न दूसरों को उनके कर्तव्यों के पालन करने में सहायक हों, जो न अपने अधिकारों की रक्षा करना जानते हों और न दूसरों के अधिकारों का आदर करना सीखे हों, जो घर में, बाजार में, सभा में और कौंसिलों में, तथा संसार के विस्तृत क्षेत्र में अपनी अयोग्यता का स्वयं सिद्ध प्रमाण देते फिरते हों ? भला, ऐसे अर्द्ध शिक्षित युवकों से देश का क्या हित साधन होगा ?

अमरीका का उदाहरण—शिक्षा-संस्थाओं के संचालकों के पथ-प्रदर्शन के लिये हम बताना चाहते हैं कि अमरीका की कुछ संस्थायें अपने यहां से निकलने वाले प्रत्येक युवक से क्या आशा करती हैं:—

१—वह अपने नागरिक उत्तरदायित्व का अनुभव करे।

२—वह नागरिकों की पारस्परिक आश्रयिता (Mutual-dependence) के भाव को समझ ले।

३—वह नागरिक विषयों में बहुमत का आदर करे।

४—वह कानून का पालन करे।

५—वह वफादार और ईमानदार हो।

६—उसका नैतिक आदर्श (Standard) उच्च हो।

७—वह वैयक्तिक और सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करे।

८—वह अच्छे नेताओं को चुन सके।

९—वह आत्म निर्भरता और अपनी बुद्धि से कार्यारम्भ करने के भाव (Initiative) की वृद्धि करे।

१०—वह मितव्ययिता और स्वावलम्बन का अभ्यास करे।

११—वह शिष्टाचार, कृपा और दयालुता का अभ्यास करे।

१२—वह स्वच्छता और श्वास की वृद्धि करे।

१३—वह मनोरंजन के उत्तम साधनों को पसन्द करे।

नागरिक शिक्षा की पद्धति—नागरिकों के इन गुणों के अभ्यास तथा प्रोत्साहन के लिये उपर्युक्त शिक्षा-संस्थायें प्रत्येक विद्यार्थी का प्रतिसप्ताह का लेखा रखती हैं, समय-समय पर निम्न लिखित रिपोर्ट देती हैं:—

(क) वह अपने व्यक्तित्व के कारण, दूसरों का आदर और विश्वास प्राप्त करने में कहां तक सफल हुआ ?

(ख) किसी काम में लगे रहने से उसकी दृढ़ता कैसी है ?

(ग) परिस्थिति या नये विचार को वह कैसी फुर्ती या तेजी से समझता है ?

(घ) किसी कार्य को नियम-पूर्वक करने में उसका कहां तक विश्वास किया जा सकता है ?

नागरिक विषयों सम्बन्धी प्रदर्शन—कहीं-कहीं कुछ संस्थाओं में नागरिक-शिक्षा की व्यवस्था के लिये प्रति सप्ताह

सभा होती है। इसमें मुख्याध्यापक भी उपस्थित होता है, परन्तु वह केवल एक दर्शक के रूप में रहता है। कार्य का संचालन करते हैं, विद्यार्थी ही। इस सभा में किसी नागरिक विषय पर वाद-विवाद होता है। कभी-कभी नागरिक जीवन की साधारण घटनाओं का अभिनय किया जाता है। उदाहरणवत् यह दिखाया जाता है कि एक व्यक्ति कुछ अपराध करता है, इस पर पुलिस क्या क्या कार्रवाई करती है। अदालतों में उसके विषय में किस तरह विचार होता है। अथवा किसी पद के लिये एक आदमी की जरूरत है, उसका किस प्रकार विज्ञापन दिया जाता है, फिर जब उम्मेदवारों की दरख्वास्तें आजाती हैं, तो उनपर किस तरह विचार किया जाता है। यदि किसी उम्मेदवार को नियुक्ति से पूर्व मिलने के लिये बुलाया जाय तो उससे क्या क्या बातें स्पष्ट की जाती हैं। कभी कभी यह दिखाया जाता है कि एक निर्वाचक संघ से किसी व्यक्ति का चुनाव करने का क्या ढंग होता है। इसके लिये क्या-क्या कार्रवाई करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार विद्यार्थियों को अपने छात्र-जीवन में उन विविध नागरिक विषयों का अच्छा ज्ञान हो जाता है, जो संस्था को छोड़ने के बाद उनके सम्मुख उपस्थित होंगे। यदि प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं के संचालक इस पद्धति का छात्रों की योग्यता के अनुसार उपयोग होने दें तो यह बहुत उपयोगी हो सकती है।

ऊँची श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए नागरिक शिक्षा—जब विद्यार्थियों की समझने की शक्ति बढ़ जाय, जब वे ऊंची श्रेणियों में चढ़ जांय तो प्रश्नोत्तर द्वारा उनके ज्ञान की वृद्धि करायी जा सकती है। उदाहरणवत् उनसे पूछा जाय, कि नगर में सड़कों पर रोशनी कौन कराता है, सड़कें कौन बनवाता है। जब वे जानलें कि यह कार्य म्युनिसिपैलिटियों द्वारा होते हैं तो प्रश्नोत्तर द्वारा उन्हें बताया जा सकता है कि म्युनिसिपैलिटियों की आमदनी किस किस प्रकार होती है। उसके लिये सदस्य कौन चुनता है, वे किस प्रकार चुने जाते हैं।

म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों आदि स्थानीय संस्थाओं का सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन्हें प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापक संस्थाओं तथा शासक सभाओं की कार्य-पद्धति तथा तद्विषयक सिद्धांतों का परिचय कराया जा सकता है।

विश्वविद्यालयों में, ऊँची कक्षाओं में पढ़ने वाले युवकों में नागरिक-शिक्षा का यह कार्य-क्रम और आगे बढ़ाया जा सकता है, उन्हें बहुतसी बारीकियाँ और ब्योरेवार बातें मालूम करायी जायँ। तथा वे नागरिक विषयों के वाद-विवाद में अधिक स्वाधीनता का उपयोग कर सकें। विश्व-विद्यालयों को पुस्तकालयों और वाचनालयों में नागरिक विषयों सम्बन्धी यथेष्ट साहित्य और पत्र-पत्रिकायें आदि रहनी चाहिये।

इस प्रकार प्रत्येक राज्य में, शिक्षा-प्राप्ति के समय ही, नवयुवकों और नवयुवतियों को नागरिक विषयों का यथा-सम्भव ज्ञान हो जाना आवश्यक है। राज्य को इसके लिये यथेष्ट सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिये। इस शिक्षा को प्राप्त किये विना वे वास्तव में नागरिक ही नहीं बन सकते।

प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को कर्तव्य-पालन की शिक्षा—अब हमें यह विचार करना है कि उन स्त्री-पुरुषों को कर्तव्य-पालन की शिक्षा किस प्रकार दी जाय, जो प्रौढ़ अवस्था के हैं, परन्तु जिन्होंने या तो थोड़ा-सा पढ़-लिखकर छोड़दिया है, अथवा जो किसी विशेष कारण से नितांत अशिक्षित हैं।

जो व्यक्ति दुर्भाग्य से कुछ शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके हैं, इन्हें उनके कर्तव्य-पालन के ज्ञान कराने का कार्य-व्याख्याताओं और कथा-वाचकों का है। ये अपने आचरण और व्यवहार के अतिरिक्त भाषणों और उपदेशों से तथा कथा-वार्ता सुनाकर इसे समुचित रूप से सम्पादन करें। जो प्रौढ़ व्यक्ति कुछ शिक्षित हैं वे भी इनसे लाभ उठा सकते हैं। वे इनके अतिरिक्त स्थायी और सामयिक साहित्य को, ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं को भी अवलोकन करते रहें और देश-काल की परिस्थिति का अनुशीलन कर अपना कर्तव्य-पालन करते रहें। इनकी सुविधा के लिये प्रत्येक नगर म्युनिसिपैलिटी आदि के सहयोग से नगर-नगर और गांव-गांव में, यथेष्ट सार्वजानिक पुस्तकालय

और वाचनालय होने चाहिये, जिनमें नागरिक विषयों के विवेचन के लिये राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र आदि की पर्याप्त सामग्री हो। इन संस्थाओं की इमारतें ऐसी और इतनी बड़ी होनी चाहिये, कि इनमें समय समय पर नागरिकों की सार्वजनिक सभायें हो सकें। जहां कहीं पुस्तकालयों और वाचनालयों की इमारतों से यह काम न लिया जा सके, वहां इस कार्य के लिये अन्य स्वतन्त्र स्थानों की व्यवस्था होनी आवश्यक है। इनका प्रबन्ध किसी विशेष जाति या समूह के हाथ में न होकर सर्वसाधारण के आधीन होना चाहिये; जिससे प्रत्येक श्रेणी के नागरिक इनका सम्यग् उपयोग कर सकें।

निदान, नागरिक-शिक्षा का प्रबन्ध देश-काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से, नगर-नगर और गांव-गांव में ही नहीं, मोहल्ले-मोहल्ले और घर-घर में होना चाहिये।

ग्यारहवां परिच्छेद

भाषा और लिपि की स्वतंत्रता

"मनुष्य की मातृ-भाषा उतनी ही महत्त्व रखती है, जितनी कि उसकी माता और मातृ-भूमि रखती है। एक माता जन्म देती है; दूसरी खेलने-कूदने, विचरण करने और सांसारिक निर्वाह के लिये स्थान देती है; और तीसरी मनोविचारों और मनोगत भावों को दूसरों पर प्रगट करने की शक्ति देकर मनुष्य-जीवन को सुखमय बनाती है।"

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

"जो लोग दूसरी भाषा के लिये अपनी भाषा का परित्याग कर देते हैं, अथवा ऐसा करने के लिये बाध्य किये जाते हैं, वे अपने अस्तित्व को नष्ट कर देते हैं।"

—सर जान वुडरफ

प्राक्कथन—अधिकांश देशों में नागरिकों की भाषा और लिपि सम्बन्धी इतनी स्वतन्त्रता होती है कि कुछ लेखकों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि इसका एक पृथक् नागरिक अधिकार की भांति उल्लेख किया जाय। तथापि सिद्धान्त की दृष्टि से इस विषय का स्पष्टीकरण होना

अच्छा ही है। इसी विचार से आस्ट्रिया, आयरिश फ्री स्टेट आदि राज्यों ने अपने अपने नागरिकों के इस अधिकार को स्पष्ट रूप से घोषित किया है।

भाषा का महत्व—विचार-स्वातन्त्र्य के विषय में, हम मानवी विचारों की महत्ता बता चुके हैं। अपने विचारों को प्रकट करने के लिये गूंगे आदमी तरह तरह के संकेत किया करते हैं, जिन लोगों की भाषा हम नहीं समझ सकते हैं, उन्हें भी इशारों से काम चलाना पड़ता है। तथापि प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से जान सकता है कि भाव प्रकट करने का सब से उत्तम साधन भाषा है। निस्सन्देह यदि मनुष्य के पास यह शक्ति या साधन न होता तो न मालूम उसकी क्या दुर्दशा होती, वह अपना विचार, अपना सुख-दुख, अपना अनुभव दूसरों के प्रति प्रकट न कर सकता और समाज में संगठन या उन्नति का मार्ग प्रशस्त न होता। निस्सन्देह हमारे सामाजिक जीवन का आधार यही है। इसके अभाव में धार्मिक, आर्थिक या राजनैतिक उन्नति की सम्भावना नहीं होती। इससे नागरिकों को अपनी भाषा के उपयोग तथा विकास करने के लिये यथेष्ट अवसर मिलने का महत्व स्पष्ट है।

मातृ-भाषा की रक्षा की आवश्यकता—प्रत्येक उन्नत जाति और राष्ट्र स्व-भाषा के उपयोग के महत्व को भली भांति जानता है। इसलिये इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि प्रायः विपुल हानि सहकर भी लोगों ने अपनी भाषा

की रक्षा की है। विजेता विजित देशों में अपनी भाषा का प्रचार इसीलिये किया करते हैं कि किसी तरह वे विजित देशों के स्वतन्त्र अस्तित्व को सर्वथा लुप्त करके, सुगमता पूर्वक उन्हें अपना एक अंग मात्र बना सकें; इसके विपरीत पराधीन हो जाने वाली जातियां भी, समझदार होने की दशा में भली भांति जानती है कि यदि हम अपनी भाषा की सम्यग् रक्षा कर सकीं तो राजनैतिक दासता थोड़े बहुत समय में हटा दी जासकेगी। परन्तु यदि अपनी भाषा त्याग कर दूसरों की भाषा स्वीकार करली तो फिर रंग-रूप अपना रहने पर भी, उसके व्यक्तियों की रुचि, आचार विचार, रहन-सहन, सभ्यता और संस्कृति में विदेशीपन और पराधीनता आ जाती है, जिससे सहज ही छुटकारा पाना सम्भव नहीं होता। स्वाधीन देशों को भी अपनी भाषा की सुरक्षा करने की नितान्त आवश्यकता रहती है, इस ओर कुछ उदासीनता होने से उनके स्व-शासन या स्वराज का आधार निर्बल हो जाता है। इस प्रकार, नागरिकों को अपनी भाषा के उपयोग सम्बन्धी यथेष्ट अधिकार होना चाहिये।

भाषा सम्बन्धी अधिकार—नागरिकों को यह अधिकार होना चाहिये कि वे राज्य कार्यों में अपनी भाषा का प्रयोग कर सकें। यदि उनके देश में कई भाषायें प्रचलित हों तो वे प्रान्तिक कार्य में अपनी प्रान्तीय भाषा तथा केन्द्रीय कार्य में राष्ट्र-भाषा का प्रयोग कर सकें। नागरिकों की इच्छा या

सुगमता को लक्ष्य में रखकर उन्हें किसी अन्य भाषा को प्रयोग करने की अनुमति दी जाना और बात है और क्षम्य है; परन्तु उन्हें उसके लिए बाध्य ही किया जाना सर्वथा अनुचित है।

राज्य को चाहिये कि सार्वजनिक कार्यों में नागरिकों की भाषा का प्रयोग करे; यदि नागरिकों में कई एक भाषायें प्रचलित हों तो उनमें से मुख्य-मुख्य भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिये। पाठशालाओं, सरकारी दफ्तरों, अदालतों, व्यवस्थापक संस्थाओं तथा अन्य सार्वजनिक व्यवहार में नागरिकों की भिन्न-भिन्न भाषाओं की समानता का नियम रहे। साथ ही उन भाषाओं के शब्द-भंडार और साहित्य की उन्नति और वृद्धि का ध्यान रखा जाना चाहिये।

भारतवर्ष का विचार—उदाहरण के लिये भारतवर्ष के विषय में विचार करें। यह एक बड़ा देश है। इसका एक एक प्रान्त संसार के अनेक राष्ट्रों के समान क्षेत्रफल और जनसंख्या वाला है। यहां भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पृथक् पृथक् भाषा का व्यवहार होना स्वाभाविक है। अतः ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। कि प्रान्तीय कार्यों में प्रत्येक नागरिक अपने प्रान्त की भाषा बंगला, मराठी, गुजराती आदि अथवा राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रयोग कर सकें और केन्द्रीय कार्यों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का। किसी नागरिक का इन भाषाओं में किया हुआ कोई कार्य कानूनी दृष्टि से अमान्य न होना चाहिये। यही

नहीं, उन्हें इन भाषाओं के प्रयोग में आवश्यक सुविधायें भी मिलनी चाहिये।

भारतीय-जनता में केवल सात फी सदी स्त्री-पुरुष शिक्षित हैं, अंगरेजी का तो ज्ञान यहां और भी कम लोगों को है। अतः उन्हें इस विदेशी भाषा में सरकारी काम करने के लिये बाध्य करना बड़े झंझट में डालना है। परन्तु, हम केवल कष्ट निवारण के विचार से हिन्दी तथा यहां की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में राज्य-कार्य किये जाने के लिये नहीं कहते। प्रश्न उनके नागरिक अधिकार का है, यह उन्हें मिलना चाहिये।

राज्य को चाहिये कि शासन-सम्बन्धी सब कार्य नागरिकों की सुविधानुसार यहां की भाषाओं में करे। सब सार्वजनिक संस्थाओं, विभागों, कमीशनों या कमेटियों आदि की रिपोर्ट आदि हिन्दी में तथा उस प्रान्त की भाषा में प्रकाशित करें, जहां के आदमियों का उससे घनिष्ट सम्बन्ध हो। इसी प्रकार, यहां शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातों का सम्यग् ध्यान रखे जाने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके विषय में हम विशेष रूप से, शिक्षा के विषय में, कह आये हैं।

लिपि सम्बन्धी अधिकार—किसी भी भाषा में कुछ लिखने के लिये एक लिपि की आवश्यकता होती है। संसार की बहुत सी भाषाएं ऐसी हैं जिनमें से प्रत्येक का किसी एक लिपि से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया है, और जिस प्रकार किसी

देश या बड़े प्रान्त के नागरिकों की कोई विशेष भाषा होती है, उसी प्रकार बहुधा वे किसी विशेष लिपि का ही प्रयोग अधिक करते हैं। इसलिये जैसे नागरिकों को भाषा-सम्बन्धी अधिकार होना चाहिये, वैसे ही उन्हें लिपि-सम्बन्धी अधिकार होना भी आवश्यक है। उन्हें राज्य कार्य में अपनी लिपि के प्रयोग करने की अनुमति होनी चाहिये, यदि किसी बड़े देश में कई लिपियां प्रचलित हों तो उन्हें राष्ट्रीय कार्य राष्ट्र-लिपि में करने के लिये आदेश भले ही किया जाय, परन्तु उन्हें किसी अन्य और विशेषतया विदेशी लिपि व्यवहृत करने के लिये बाध्य करना सर्वथा अनुचित है, अन्याय है।

राज्य को भी चाहिये अपने कार्यों में लिपि सम्बन्धी वैसे ही सिद्धान्तों के पालन करने का ध्यान रखे, जैसा हम भाषा के सम्बन्ध में पहले बता आये हैं, अर्थात् उसकी सार्वजनिक संस्थाओं का सब काम देश की लिपि में हो, उसमें नागरिकों की सुविधा का यथेष्ट ध्यान रखा जाय।

भारतवर्ष इतना बड़ा देश होने पर भी यहां लिपि सम्बन्धी समस्या कुछ जटिल नहीं है। यहां अधिकतर भाग में देवनागरी और फारसी लिपि से बखूबी काम चल सकता है। दक्षिण भाग में, प्रान्तीय कार्यों के लिये वहां की लिपि व्यवहृत की जा सकती है। नोट, सिक्के तथा रेल, तार, डाक आदि जो कार्य अखिल भारतवर्षीय हैं इनमें देवनागरी और फारसी लिपि का न्यायोचित व्यवहार होना चाहिये, परन्तु यहां इन बातों के लिये बहुत आन्दोलन करना पड़ा, और कुछ अंश में अभी

तक भी अभीष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई है। आशा है, सम्यग् ध्यान दिया जायगा।

भाषा और लिपि-सम्बन्धी अधिकार की मर्यादा—बहुधा प्रत्येक देश में और विशेषतया उन देशों में जहां शिक्षा का प्रचार तथा आने जाने के साधनों की कमी हो, थोड़े थोड़े फासले पर लोगों की भाषाओं में एवं उनकी व्यवहृत लिपियों में कुछ अन्तर पाया जाता है। अब यदि प्रत्येक स्थान के नागरिक यह चाहें कि उन्हें अपनी विशेष भाषा और लिपि का ही उपयोग करने की स्वतंत्रता हो अथवा राज्य उनके लिये विशेष सुविधायें प्रदान करे तो यह न सम्भव है, और न लाभकारी ही है। आदमी जब समाज में रहने लग जाते हैं, उसी समय से उन्हें अपनी कुछ स्वतंत्रता मर्यादित कर देनी आवश्यक होती है, उन्हें दूसरों के सुख सुविधा का भी ध्यान रखना होता है, और इससे अन्ततः उनका ही लाभ है; यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। अस्तु किसी देश या प्रान्त के नागरिकों के सामूहिक हित का विचार करके किस भाषा और किस लिपि का व्यवहार किया जाना उपयोगी होगा, इसका सहज ही निर्णय किया जा सकता है। उसी में नागरिकों को एवं राज्य को सार्वजनिक कार्य करना चाहिये। अपने अपने निजी या घरेलू व्यवहार में जो नागरिक जिस भाषा और जिस लिपि का उपयोग सुविधा जनक समझे उसी में व्यवहार कर सकता है।

बारहवां परिच्छेद

मताधिकार

" जब तक तुम्हारे देश-बन्धुओं में से एक भी ऐसा है, जिसका राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के लिए, अपना चुना हुआ प्रतिनिधि नहीं है, तब तक तुम्हारा देश सब का और सब के लिए नहीं है, जैसा कि वह होना चाहिये।

—मैजिनी

नियम निर्माण और नागरिक—राज्य को जो विविध अधिकार प्राप्त होते हैं, वे उसी दशा में उचित कहे जा सकते हैं, जब उसे वे राष्ट्र की ओर से—नागरिकों की ओर से—प्राप्त हुए हों। वास्तव में राज्य की प्रभुता का आधार सर्वसाधारण की इच्छा (Nation's will) है। नागरिक राज्य के नियम केवल इसलिये मान्य नहीं करते कि वे नागरिकों के हित के लिये बनाये गये हैं, क्योंकि सम्भव है बहुत से नागरिक कितने ही नियमों की उपयोगिता न समझ सकें। उन नियमों के मान्य होने का एक मुख्य कारण यह होता है कि उनके बनाने में नागरिकों का भी हाथ होता है। अपने बनाये हुए

नियम कठोर होते हुए भी प्रायः पालन किये जाते हैं, इसके विपरीत दूसरे के बनाये नियमों को आशंका की दृष्टि से देखने और कुछ बहाना मिलने पर उनकी अवहेलना करने की, प्रायः मनुष्यों में प्रवृत्ति होती है। इसलिये यह आवश्यक है राज्य के नियम वहां के नागरिकों द्वारा ही बनाये जांय। ऐसा होने में नागरिकों के हित और स्वार्थों का समुचित ध्यान रह सकेगा और स्वयं नागरिकों द्वारा बनाये जाने के कारण इन्हें भंग भी बहुत कम किया जायगा।

परन्तु क्या सब नागरिकों का नियम-निर्माण में भाग लेना सम्भव है?

मताधिकार—प्रत्येक गांव या नगर के निवासियों में बच्चों या नाबालिकों की खासी संख्या होती है, फिर कुछ आदमी वृद्ध, रोगी या निर्बल भी होते हैं। परन्तु यदि इन्हें छोड़ ही दिया जाय तो भी शेष सब आदमी आधुनिक परीस्थिति में; नियम बनाने में प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सकते। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्राचीनकाल में थोड़ी जन-संख्या वाले नगर राज्यों में यह हो सकता था। पर राज्यों के बड़े-बड़े हो जाने और अधिक जन-संख्या का प्रश्न सामने आने पर वह उस प्रथा के अनुसार कार्य करना अत्यन्त कठिन होगया और उसे त्याग दिया गया। अब नागरिक प्रत्यक्ष रूप से नियम निर्माण नहीं करते, नहीं कर सकते। उनकी ओर से भेजे हुए

प्रतिनिधि ही नियम बनाते हैं। इस प्रकार किसी राज्य के लाखों या करोड़ों आदमी एकत्र न होकर उनकी तरफ से केवल सौ, दो सौ या चार-छः सौ आदमी उक्त कार्य करते हैं। परन्तु चूंकि इन प्रतिनिधियों के चुनाव के लिये राज्य के असंख्य आदमियों को मत देने का अधिकार होता है, वे सब यह अनुभव करते हैं कि उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हो—नियम-निर्माण करने, और इस प्रकार राज्य के शासन में भाग लेने का अधिकार है।

मताधिकार का अभिप्रायः यह है कि नागरिकों को अपने नगर, प्रांत तथा राज्य की विविध व्यवस्थापक संस्थाओं के सदस्य निर्वाचित करने का अधिकार हो एवं जिन राज्यों में सरकारी कर्मचारियों के चुने जाने का विधान हो, वहां उनके निर्वाचन में भी वे अपना मत दे सकें। जिस विचार के या जिस दल के व्यक्ति के पक्ष में अधिक नागरिक अपना मत दें वही व्यवस्थापक संस्था का सदस्य या सरकारी कर्मचारी चुना जावे। जिन नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होता है, वे निर्वाचक कहलाते हैं।

मताधिकार सम्बन्धी विविध बातों का सविस्तर वर्णन हम 'निर्वाचन-नियम' पुस्तक में कर चुके हैं। यहां कुछ आवश्यक बातों का संक्षेप में ही उल्लेख किया जाता है।

मताधिकार का महत्व—वैध राज-तंत्र तथा प्रजा-तंत्र शासन-पद्धति वाले देशों में व्यवस्था अर्थात् कानून बनाने का

काम नागरिकों के प्रतिनिधि करते हैं। इनकी संख्या थोड़ी ही होती है। परन्तु देश के वृहत् संख्यक नागरिकों को प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार न होने पर भी अप्रत्यक्ष रूप से वे भाग लेते ही हैं। चूंकि जो व्यक्ति व्यवस्थापक संस्थाओं के सदस्य बनते हैं वे नागरिकों के द्वारा ही तो चुने जाते हैं। जिस दल के, या जिन विचारों वाले आदमियों के पक्ष म नागरिकों का बहुमत नहीं होता, वे नागरिकों के प्रतिनिधि अर्थात् व्यवस्थापक संस्थाओं के सदस्य नहीं बन सकते। इसलिये किसी देश की व्यवस्था बहुत कुछ वहां के निर्वाचकों पर निर्भर होती है।

स्मरण रहे कि जिन व्यवस्थापक संस्थाओं में प्रतिनिधि चुनकर भेजे जाते हैं, यदि उनकी शक्ति कम हो, उन पर शासकों का नियन्त्रण बहुत अधिक हो, तो निर्वाचकों के मताधिकार का महत्व बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।

मताधिकार व्यापक होना चाहिये—देश के सर्वसाधारण में राजनैतिक जागृति के भावों का संचार करने के लिये तथा उन्हें यह अनुभव कराने के लिये, कि अपने देश के शासन में हमारा भी कुछ भाग—चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप से ही हो—है, यह आवश्यक है कि मताधिकार देश के अधिक से अधिक व्यक्तियों को हो, केवल किसी विशेष श्रेणी या विशेष स्वार्थ वालों को नहीं। इसमें अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, मालिक-मजदूर कृषक-जमींदार का अथवा रंग, जाति, धर्म (मत) आदि का

पक्षपात न होना चाहिये। हां, राज्य के जो अंग विकृत या अपरिपक्व हों, अर्थात् जो व्यक्ति पागल या नाबालिग हो, उन्हें इस अधिकार से वंचित रखा जाना ठीक ही है; कारण कि उनमें विचार-पूर्वक मत देने की योग्यता नहीं होती।

उपर्युक्त बातों में अनेक आदमियों को कई आपत्तियां रही हैं, तथा इस समय भी कुछ बातें सर्वमान्य नहीं हैं। उनके विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। पहले स्त्रियों के मताधिकार का प्रश्न लेते हैं।

स्त्रियों का मताधिकार—पहले कहा जा चुका है कि यद्यपि पिछले दिनों में स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों की कुछ वृद्धि हुई है, उन्हें इस समय भी उनके देशों में प्रायः बहुत कम अधिकार हैं। अन्यान्य अधिकारों में उनके मताधिकार का विरोध भी बहुत स्थानों में बना हुआ है। हमारी सम्मति में किसी स्त्री को केवल स्त्री होने के कारण इस अधिकार से वंचित रखना अनुचित है। अन्य राजनैतिक अधिकारों की भांति मताधिकार का भी आधार योग्यता और विवेक होना चाहिये, जिस व्यक्ति में यह गुण हों उसे यह अधिकार मिल जाना चाहिये, इसमें स्त्री-पुरुष के भेद भाव की आवश्यकता नहीं।

साथ ही, एक बात का और भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है। स्त्रियों को यह अधिकार मिलने का उस दशा में कोई अर्थ नहीं हो सकता, जब कि उन्हें किसी नियम के

द्वारा इसके उपयोग से वंचित कर दिया जाय। मताधिकार में साम्पत्तिक स्थिति का विचार किया जाना कहां तक ठीक है, इसका हम आगे विचार करेंगे, यहां हमें इस विषय के स्त्रियों सम्बन्धी पहलू पर कुछ वक्तव्य है। कल्पना करो कि कहीं ऐसा नियम हो, अमुक माली हालत के व्यक्तियों को—वे पुरुष हों या स्त्री—मताधिकार प्राप्त हो। क्या ऐसा नियम स्त्रियों के विषय में न्यायानुकूल कहा जा सकेगा? हमें स्मरण रखना चाहिये कि चूंकि स्त्रियां प्रायः स्वतन्त्र रूप से धनोपार्जन बहुत कम करती हैं, वे अधिकतर अपने पति या अन्य पुरुषों के आश्रित रहती हैं, इसलिये, उनकी साम्पत्तिक योग्यता का परिमाण, पुरुषों की अपेक्षा कम रखा जायगा तभी वे इस अधिकार का सम्यग् उपयोग कर सकेंगी; अन्यथा उपर्युक्त नियम के होते हुए भी बहुत-सी स्त्रियां इससे वंचित ही रहेंगी। इस बात का विचार करके ही इंग्लैंड में यह नियम किया गया है कि कोई स्त्री पांच पौंड वार्षिक किराये वाले मकान या दूकान में रहने से निर्वाचन में मत देने की अधिकारिणी हो सकती है, जब कि पुरुषों के लिये कम से कम दस पौंड वार्षिक का परिमाण निर्धारित किया गया है। और, ऐसा होना ठीक ही है।

अस्तु, स्त्रियों को यथेष्ट मताधिकार मिलना आवश्यक है। इससे न केवल स्त्रियों में राजनैतिक जागृति होगी, वरन् उनके द्वारा घर-घर, बालक-बालिकाओं में प्रतिनिधि तंत्र के

भावों का उदय होने, और इस प्रकार राष्ट्र का अधिकतम विकास होने में सहायता मिलेगी। हां, कुछ दशाओं में यह भी सम्भव है कि स्त्रियों के मताधिकार से पारिवारिक जीवन की सरसता कुछ कम हो जाय, इसमें कुछ कठिनाइयां उपस्थित हो जांय। अतः जहां तक सम्भव हो, पारिवारिक सुख शान्ति की रक्षा की जाय; परन्तु राज्य के हितार्थ थोड़े बहुत पारिवारिक हानि के लिये भी, नागरिकों को तैयार रहना चाहिये।

हां, यह निश्चय करना सहज नहीं है कि किन राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त कर स्त्रियां कहां तक राष्ट्रोन्नति में सहायक हो सकेंगी। बहुधा निस्पक्ष सज्जनों में भी, इस विषय में बड़ा मत भेद होता है। कुछ कम आशावादी हैं तो कुछ बहुत अधिक आशायें रखते हैं। एक सज्जन × का मत है कि "पुरुषों का स्वभाव लड़ने-भिड़ने का रहता है, इसलिये संसार से झगड़े उठाने के लिये आवश्यक है उनके हाथ से अधिकार छीने जाकर स्त्रियों को दिये जांय। ऐसे शासन विधानों से, जो पुरुषों के हाथ में हैं, शान्ति की आशा नहीं हो सकती। प्रत्येक राज्य के मताधिकारियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होनी चाहिये।" निस्सन्देह,

× डा. ल्यू यू. हान। आप चीन के अच्छे विचारक हैं, कवि होने के अतिरिक्त पुराने जनरल भी हैं।

यह मत विचारणीय है। तथापि वर्तमान स्थिति में हम स्त्रियों के लिये पुरुषों के समान अधिकार दिये जाने का आदर्श भी बुरा नहीं समझते।

मताधिकार और शिक्षा—कुछ लोगों का मत है कि मताधिकार केवल शिक्षितों और विद्वानों को ही मिलना चाहिये। अन्यथा इस अधिकार का दुरुपयोग होगा और निर्वाचक अपना कर्तव्य पालन ठीक तरह से न कर सकेंगे, उनसे बहुत गलतियां होंगी। इस सम्बन्ध में प्रथम तो यह विचारणयि है कि प्रजातंत्र राज्य का जीवन ही इस बात में है कि लोगों पर उनके कार्य का उत्तरदायित्व रहे, चाहे उनसे कहीं कहीं त्रुटियां भले ही हों। वे अपनी त्रुटियों से शिक्षा लेंगे, और राज्य भी जब यह अनुभव करेगा कि वर्तमान परिस्थिति में नागरिकों से त्रुटियां होती हैं, तो वह उन्हें दूर करने का उपाय काम में लायेगा। शिक्षा हीनता के आधार पर नागरिकों को मताधिकार से वंचित कर देने का अर्थ इन नागरिकों के सुख स्वार्थ आदि की अवहेलना करना है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि मताधिकार का आधार शिक्षा रखा जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कहां तक शिक्षा पाये हुए व्यक्ति को यह अधिकार मिलना उचित होगा। मामूली लिखना पढ़ना जान लेने से, यह नहीं कहा जा सकता, कि व्यक्ति निर्वाचन के विषय में विशेष योग्य हो जायगा। यदि निर्वाचन के लिये किसी प्रकार की

योग्यता की आवश्यकता है तो वह है राजनैतिक ज्ञान, शासन-पद्धति और शासन सम्बन्धी समय समय पर उपस्थित होने वाले विषयों का व्यवहारिक ज्ञान। यह ज्ञान अनेक ऐसे आदमियों में भी नहीं होता जो दर्शन शास्त्र, चिकित्सा या गणित आदि की बड़ी उपाधियां प्राप्त होते हैं। तो क्या इन सब आदमियों को भी मताधिकार से वंचित कर दिया जाना उचित होगा? फिर यदि मताधिकार के लिये किसी प्रकार की मानसिक योग्यता आवश्यक समझी जाती है तो राज्य का कर्तव्य है कि साधारण नागरिकों को उतनी योग्यता प्राप्त कराये।

असल बात तो यह है, कि यद्यपि नागरिकों के लिये शिक्षा बहुत आवश्यक और उपयोगी है परन्तु निर्वाचन आदि कार्यों के लिये जितना महत्व इसे कुछ आदमी दे देते हैं, वह जरूरत से ज्यादह है।

गरीबों को मताधिकार—जैसा कि हम 'अधिकारों का विषय' शीर्षक परिच्छेद में लिख चुके हैं, किसी नागरिक को धनाभाव के कारण मताधिकार आदि किसी राजनैतिक अधिकार से वंचित किया जाना अनुचित है। प्रायः राज्यों में धनोत्पादन और धन वितरण की जो पद्धतियां विद्यमान हैं उनके कारण कुछ आदमियों का और कहीं कहीं तो बहुत से आदमियों का निर्धन रहना स्वाभाविक है। इन्हें मताधिकार न देने से राज्य में लोक तंत्र के सिद्धान्तों का व्यवहार कम हो जाता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। प्रत्येक राज्य में कुछ महानुभाव ऐसे उच्च विचार वाले होते हैं, जो धन का जान बूझ कर त्याग करते हैं, ये अवैतनिक या अल्प वेतन पर सेवा करते हैं और अपने जीवन का उद्देश्य यथा शक्ति परोपकार करना समझते हैं। ये निर्धनता और सादगी का जीवन बिताते हैं। ऐसे उदार और त्यागशील सज्जनों का प्रत्येक राज्य को गर्व करना चाहिये; इन्हें इनकी निर्धनता के आधार पर मताधिकार से वंचित करना एक अनिष्टकारी उदाहरण उपस्थित करना और राज्य को महान क्षति पहुंचाना है।

कुछ आदमियों का विचार है कि निर्धन लोगों के पास ऐसी वस्तु (सम्पत्ति) नहीं होती, जिससे देश में उनका स्थायी स्वार्थ हो, और वे राज्य को कुछ कर नहीं देते, इसलिये उन्हें मताधिकार न मिलना चाहिये। परन्तु इस विषय में यह विचारणीय है कि निर्धन आदमियों का देश के सुख दुख से वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा धनवानों का। उनके पास यदि सम्पत्ति नहीं है, तो क्या हुआ, उनके पास श्रम तो है, और श्रम धनोत्पत्ति का एक अनिवार्य साधन है। आवश्यकता उपस्थित होने पर उन्हें देश की रक्षा के लिये अपनी जान जोखम में डालनी होती है। वह राज्य का वैसा ही अंग (सदस्य) हैं, जैसे धनवान हैं। फिर उन्हें मताधिकार द्वारा

उसके प्रबन्ध में भाग लेने से, वंचित क्यों किया जाय? निदान वह मताधिकारी हैं, और, उन्हें यह अधिकार मिलना चाहिये।

यदि मताधिकार के सम्बन्ध में आर्थिक योग्यता का कोई परिमाण रखना हो, तो सब से अच्छा यह है कि जो आदमी राज्य के लिये कोई उत्पादक कार्य नहीं करते, अपने पैत्रिक अधिकार से प्राप्त सम्पत्ति से मौज उड़ाते हैं, या निखट्टू रहते हुए भिक्षा मांग खाते हैं, उनका इस अधिकार से वंचित किया जाना ठकि है।

अस्तु, मताधिकार राज्य की अधिकतम जनता को होने के लिये, उसमें शिक्षा, सम्पत्ति या स्त्री-पुरुष भेद का बन्धन न लगाया जाना चाहिये; यह अधिकार प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को होना चाहिये, जिसकी शारीरिक या मानासिक दशा ऐसी विकृत न हो कि वह इस कर्तव्य को पालन करने में असमर्थ हो। ऐसा होने पर ही व्यवस्थापक संस्थाओं के सदस्य किसी विशेष समूह के प्रतिनिधि न होकर अधिक से अधिक जनता के प्रातिनिधि होंगे, तथा राज्य अपने नागरिकों के अनुभव और ज्ञान से यथेष्ट लाभ उठा सकेगा।

मताधिकार का सदुपयोग—अन्य अधिकारों की भांति इस अधिकार के भी दुरुपयोग से बचने की बड़ी आवश्यकता है। निर्वाचकों को खूब सोच समझ लेना चाहिये कि जिस व्यक्ति के चुनाव के लिये वे अपना मत देते हैं, वह वास्तव में निडर, अनुभवी, स्वदेश-हितैषी, एवं उन सब गुणों से सम्पन्न

है या नहीं, जो उनके योग्य प्रतिनिधि में होने चाहियें। निर्वाचकों को किसी प्रकार के लोभ, लिहाज, जाति सम्प्रदाय आदि के विचार में पड़कर अपने कर्तव्य पालन में त्रुटि न करनी चाहिये।

निर्वाचकों को ध्यान रखना चाहिये कि जिस आदमी को मत देकर वे अपना प्रतिनिधि बनाते हैं वह जो कुछ व्यवस्थापक संस्थाओं में कहेगा और करेगा, वह उनकी ओर से कहा हुआ और किया हुआ समझा जायगा। इसलिये प्रत्येक नागरिक का एक एक मत बहुमूल्य है। वह किसी भी दशा में अयोग्य आदमी के पक्ष में नहीं दिया जाना चाहिये।

कभी कभी कुछ नागरिक निर्वाचन स्थान तक जाने आने के झंझट से बचने के लिये मत ही नहीं देते। यह भी ठीक नहीं है। उनकी उपेक्षा से योग्य उम्मेदवारों को मिलने वाले मतों की संख्या कम रह सकती, और अयोग्य आदमियों की जीत हो सकती है। अयोग्य सदस्यों वाली व्यवस्थापक संस्था के संगठन का कुफल नागरिकों को अगले निर्वाचन तक भुगतना पड़ेगा। इस प्रकार नागरिक के किसी भी मत का अनुपयोग अथवा दुरुपयोग न होना चाहिये।

इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि प्रायः विविध देशों की निर्वाचन पद्धति भी बहुत संशोधनीय है। आजकल बहुधा धनवान तथा चालाक आदमियों को ही सफलता मिलने

की अधिक सम्भावना होती है। बहुधा ऐसे आदमी भी व्यवस्था संस्थाओं के सदस्य बन जाते हैं, जिन्होंने सार्वजनिक कार्य का कुछ अनुभव प्राप्त नहीं किया, और जिनमें त्याग तथा सार्वजनिक सेवा का कुछ भाव नहीं होता। इस विषय की कुछ बातों का सुधार, आवश्यक कानून बन जाने से हो सकता है।

निर्वाचकों का ज्ञान—स्थानीय संस्थाओं—म्युनिसिपैलिटियों, पंचायतों और जिला बोर्डों आदि—के लिये तो निर्वाचक भली भांति विचार कर मत देने का निर्णय कर सकते हैं, क्योंकि बहुधा वे अपनी स्थानीय आवश्यकताओं को तथा उम्मेदवारों के गुण दोषों को भली भांति जानते हैं। परन्तु प्रान्तीय या केन्द्रीय व्यवस्थापक संस्थाओं के लिये होने वाले निर्वाचनों में निर्वाचक अपने मताधिकार का सदुपयोग तभी कर सकते हैं, जब देश की प्रचलित राजनीति में उनका यथेष्ट अनुराग हो। वे यह जानते हों कि देश में कौन कौन से सुधार अत्यन्त आवश्यक हैं और किस दल के आदमी का किस किस विषय में क्या क्या मत हैं, तथा किस आदमी का व्यवस्थापक संस्था में जाना अधिकतम उपयोगी होगा।

निर्वाचकों को व्याख्यानों, लेखों, ट्रैक्टों, आदि के द्वारा मताधिकार का महत्व तथा इसके सदुपयोग की विधि बतायी जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त विचारशील नागरिकों को अपने आचरण और व्यवहार से उत्तम उदाहरण उपस्थित

करना चाहिये। केवल निर्वाचन के समय उम्मेद्वारों या उनके एजन्टों द्वारा कुछ सूचनायें आदि निकल जाना पर्याप्त नहीं। इसका तो निरन्तर बारहों महीने प्रयत्न होना चाहिये। तभी निर्वाचक समुचित रूप से शिक्षित होकर अपने बहुमूल्य मताधिकार का सदुपयोग कर सकेंगे।

तेरहवां परिच्छेद

न्याय

"न्याय सब के साथ, रियायत किसी से नहीं"

—'दंडविधि'

अब हम नागरिकों के न्याय-सम्बन्धी अधिकार का विचार करते हैं। पहले न्याय का यथेष्ट महत्व जान लेना चाहिये।

न्याय का महत्व—न्याय राज्य का सब से बड़ा बल है। जहां न्याय-कार्य समुचित रूप से सम्पादित होता है, और केवल दुष्टों को ठीक दंड मिलता है, वहां सब नागरिक अपने कार्य में लगे रहते हैं, और राज्य की उन्नति होती है। परन्तु जो राज्य इसकी उपेक्षा करके सेना और पुलिस का आश्रय तकते हैं उनका भविष्य अंधकारमय होने में कोई संदेह नहीं। जब किसी देश में अन्याय होने लगता है तो राज्य सर्वसाधारण की सहानुभूति से वंचित हो जाता है, लोगों में क्रमशः क्रांति के भाव बढ़ते जाते हैं और यदि तब भी राज्य सावधान होकर न्याय का सहारा नहीं लेता तो उसके प्रति ऐसा विरोधभाव उत्पन्न हो जाता है कि जनता अपने जान-माल की रक्षा से उदासीन होकर पुलिस और फौज का निर्भयता-पूर्वक सामना

करने लगती है और अन्त में राज्य को नीचा देखना पड़ता है।

इससे न्याय का महत्व स्पष्ट है, परन्तु उसका उद्देश्य तभी सफल होता है जब वह वास्तव में न्याय हो, उसमें पक्षपात आदि दोष न हो।

न्याय की निश्पक्षता—न्यायालय के सम्मुख सब नागरिक समान होने चाहिये। एक अभियुक्त का जिस पद्धति और कानून के अनुसार विचार किया जाय, दूसरे उसके समान अभियुक्त का भी ठीक उसी पद्धति और उसी कानून के अनुसार विचार होना चाहिये। दंड देने में धनी-निर्धन, काले-गोरे या जाति और धर्म के आधार पर कोई भेद माना जाना अनुचित है। न्याय की निश्पक्षता न केवल उन विवाद-ग्रस्त विषयों में रहनी आवश्यक है, जिनका सम्बन्ध केवल नागरिकों या नागरिक समूहों से है, वरन् उन विषयों में भी रहनी चाहिये जिनमें एक ओर नागरिक और दूसरी ओर शासक या प्रबन्धक हो।

इसके लिये कुछ आवश्यक बातें--न्याय कार्य निस्पक्ष रीति से होता रहे, इसके वास्ते कुछ बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। प्रथम यह कि राज्य में कानून का शासन होना चाहिये। नागरिक हो या शासक सब कानून के सामने समान होने चाहिये। सब के लिये वे ही न्यायालय रहने चाहिये, शासकों के लिये पृथक् नहीं। दूसरे यह आवश्यक है कि यह कार्य शासन कार्य से स्वतन्त्र हो, न्याय-विभाग शासन-विभाग से पृथक्

हो, न्यायाधीशों की नियुक्ति, वेतन या पद वृद्धि तथा बर्खास्तगी शासकों के अधीन न हो, एवं उन पर शासकों का कुछ भी प्रभाव न पड़ सके। ऐसा न होने की दशा में निर्बल कार्य-कर्त्ताओं द्वारा पदे पदे न्याय की हत्या होती है और नागरिकों के अधिकारों की समुचित रक्षा नहीं होती।

न्याय निस्पक्ष होने के लिये यह भी आवश्यक है कि अभियुक्त का विचार खुली अदालत में हो, और उसे अपनी सफाई देने का पूर्ण अवसर और सुविधायें प्राप्त हों। अन्यान्य बातों में न्याय बहुत सस्ता होना चाहिये, यदि प्रारम्भिक शिक्षा की भांति यह निशुल्क हो तो बहुत ही उत्तम हो। जिन देशों में यह बहुत महंगा है वहां निर्धन नागरिक इससे समुचित लाभ नहीं उठा सकते और बहुधा धनवानों या सत्ताधारियों के पक्ष में निर्णय हो जाता है।

जूरी की प्रथा—बहुत से देशों में जूरी (Jury) या पंचायत द्वारा न्याय कराने की प्रथा न होने, या कम होने से बहुत से मामलों में न्याय नहीं होता। यह सर्वथा सम्भव है कि एक न्यायाधीश किसी अभियोग को समुचित रीति से न समझे, अथवा उसका निर्णय एकांगी हो। इसलिए उन्नत राज्यों में, फौजदारी मामलों में अभियुक्त व्यक्ति की जाति के स्थानीय सुयोग्य सज्जनों की जूरी (या पंचायत) द्वारा विचार कराने की प्रथा है। जूरी यह विचार करती है कि

अभियोग की वास्तविक घटनायें क्या हैं, उन घटनाओं के आधार पर जज या न्यायाधीश कानूनी निर्णय सूचित करता है। नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिये इस प्रथा का प्रत्येक राज्य में समुचित प्रचार होना चाहिये।

अभियुक्त, और उसका अधिकार—न्यायालय अपराधी को दंड देते हैं, जिन अभियुक्तों का अपराध प्रमाणित न हो, वे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु क्या पुलिस चाहे जिस व्यक्ति पर मुकद्दमा चला कर उसे व्यर्थ झंझट में डाल सकती है? नहीं। इंगलैंड आदि स्वाधीन और उन्नत राज्यों में ऐसा नियम होता है कि किसी व्यक्ति पर फौजदारी मुकद्दमा उस समय तक नहीं चल सकता, जब तक उसके अपराध की जांच कोई अफसर अच्छी तरह न करले और उस व्यक्ति के अभियुक्त होने की सम्भावना न हो। इस प्रकार पुलिस का अधिकार मर्यादित रहता है और वह उच्छृंखल नहीं हो सकती।

स्मरण रहे कि अभियुक्त को दोषी प्रमाणित करने का सब भार अभियोग चलाने वाले पर होना चाहिये, यदि अभियोग सरकार की ओर से चलाया जाय तो सरकार को उसके दोषी होने का सबूत न्यायालय के सामने रखना चाहिये। अनियंत्रित राज्यों में ऐसा नहीं होता। वहां सरकार अभियुक्त को दबाती है कि वह अपनी निर्दोषता सिद्ध करे। यह कार्य न्यायानुमोदित नहीं, यह तो न्याय का प्रहसन है और जो

विधान ऐसी कार्रवाई होने देता है वह वास्तव में विधान नहीं, दमन है।

अच्छा, जब तक किसी व्यक्ति पर किसी अपराध का केवल अभियोग ही हो, उसका अपराध प्रमाणित न हुआ हो, तो उसका क्या अधिकार है? क्या कानून के अनुसार पुलिस किसी अभियुक्त को मनचाही अवधि तक, प्रमाण संग्रह आदि के लिये हवालात में रख सकती है? नहीं; अभियुक्त को न्यायालय के सामने जल्दी से जल्दी उपस्थित करने में जितना समय लगे, उससे अधिक देर तक उसे हवालात में रखना अन्याय है। कहीं कहीं पुलिस के मोहलत मांगने पर, अभियुक्त के बहुत समय तक हवालात में रखे जाने की अनुमति मिल जाती है। यह भी अनुचित है। जहां ऐसा होता हो, वहां इस विषय का स्पष्ट कानून बन जाना चाहिये, जिससे अभियुक्त के नागरिक अधिकार का अपहरण न हो।

अभियुक्त कहीं भाग न जाय, इस बात का प्रबन्ध तो अवश्य रहे, परन्तु वैसे उसके साथ व्यवहार बहुत उत्तम रहना चाहिये, जब तक न्यायालय ऐसा निर्णय न करे, किसी अभियुक्त को अपराधी मानना और उससे अपराधी का सा व्यवहार करना उसके प्रति अन्याय करना है।

दंड सम्बन्धी कुछ विचार—न्याय के लिये प्रत्येक राज्य के कानूनों में अपराधी को विविध प्रकार के दंड दिये जाने की व्यवस्था होती है। इस विषय में स्मरण रखने की

बात यह है कि कानून नागरिकों के लिये होते हैं, नागरिक कानून के लिये नहीं होते। अर्थात् कानूनों में, नागरिकों की सुविधा और उन्नति के विचार से समय समय पर आवश्यक परिवर्तन होते रहना आवश्यक है, जिससे नागरिकों का यथेष्ट हित होता रहे। नागरिकों को दंड देते समय इस बात का समुचित विचार रखा जाना चाहिये कि उसमें बदला लेने का भाव न हो। दंड ऐसा होना चाहिये, और इस रीति से दिया जाना चाहिये जिससे अपराधी का एवं समाज का यथेष्ट सुधार होने, और अपराधों की संख्या तथा मात्रा कम होने में सहायता मिले। इस प्रकार दंड एक साधन मात्र है, यह स्वयं साध्य नहीं। यदि दंड दिये बिना ही काम चल जाय तो ख्वामख्वाह दंड देने की आवश्यकता नहीं। इस विचार से, समय समय पर इस बात की जांच होती रहनी चाहिये कि अमुक विषय के अपराध क्यों होते हैं और तत्कालीन परिस्थिति में कैसे कैसे सुधार किये जाने चाहिये। साथ ही, जब यह जान पड़े कि कोई व्यक्ति अपने अपराध के लिये वास्तव में दुखी है और उसके हृदय में प्रायश्चित और पश्चाताप का भाव है तो उसके विषय में दया-पूर्वक विचार होना उसके एवं समाज के, दोनों के हित के लिये उपयोगी होता है। सभ्य राज्यों में राज प्रतिनिधि या राष्ट्र-पति को यह अधिकार रहता है कि वह न्यायालय से दोषी प्रमाणित हुए व्यक्ति को क्षमा करदे। बहुधा उसके इस अधिकार के उपयोग से राज्य का

ऐसा हित साधन होता है, जैसा कानून द्वारा निर्धारित दंड दिये जाने की दशा में कदापि नहीं हो सकता।

अब हम एक विशेष प्रकार के दंड--प्राण-दंड—के विषय में विचार करते हैं।

प्राण-दण्ड उठा दिया जाना चाहिये—प्राण-दण्ड का कुछ अच्छा फल नहीं निकलता। जिसे यह दंड दिया जाता है, उसे आत्म-सुधार करने का कोई अवसर ही नहीं रहता। रही उसके जनता पर होने वाले प्रभाव की बात, सो लोगों के युद्धों में भाग लेने या उनका हाल पढ़ते या सुनते रहने के कारण उन पर भी सरकार का इससे इतना आतङ्क नहीं जमता, जितना कि प्रायः समझा जाता है। जो लोग राजविद्रोह आदि में मृत्यु-दण्ड पाते हैं, उनमें बहुत से तो हंसते हंसते मर जाते हैं। उन्हें इस बात की खुशी होती है कि वे अपने विचार-स्वातन्त्र के कारण बलि वेदी पर चढ़ें। इस बात से दूसरों के मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर, भूल सब से होती है। और, निर्दोष आदमियों को गलती से प्राण-दण्ड मिल चुकने पर भूल सुधारने का कोई उपाय नहीं रहता। यह भी तो सम्भव है कि जिन आदमियों को आज क्षणिक अपराध के लिये फांसी दी जाती है, यदि उनके जीने के अधिकार की रक्षा की जाय और उनका उचित सुधार किया जाय तो कालान्तर में वे कुछ उपयोगी

कार्य कर सकें; हां, उनमें से कुछ स्वदेश तथा संसार के हितैषी निकल आवें।*

हर्ष की बात है कि धीरे धीरे प्राण-दण्ड उठता जा रहा है। सभी सभ्य देशों में उन अपराधों की संख्या कम रह गयी है, जिनका दंड फांसी निर्धारित है। योरप, अमरीका के कई देशों में फांसी की सजा बिलकुल ही नहीं रही है। हत्यारों या राजद्रोहियों को कालेपानी या देश-निकाले आदि की सजा दी जाती है, इससे अपराधी अपने चारित्र-सुधार के अवसर से एकदम वंचित नहीं होता। दंड या कानून का उद्देश्य नागरिकों का सुधार होना चाहिये, इस दृष्टि से प्राणदण्ड सर्वथा उड़ जाना आवश्यक है।

---

* इतिहास इस बात की साक्षी है कि कितने ही मनुष्य प्राणदण्ड से दण्डित हो चुकने पर निरपराध प्रमाणित हुए हैं; और उनके फांसी पा चुकने पर, उच्च अधिकारियों के पास से, उन्हें छोड़ दिये जाने का आदेश प्राप्त हुआ है।

चौदहवां परिच्छेद

समानता

पिछले परिच्छेदों में नागरिकों के विविध अधिकारों का वर्णन हो चुका है। अब हम उनके दो ऐसे अधिकारों का वर्णन करेंगे जो अन्य अधिकारों का आधार कहे जा सकते हैं, जिससे और सब की रक्षा होती है। यह अधिकार समानता और न्याय-सम्बन्धी है। पहले इस परिच्छेद में समानता का विषय लेते हैं।

नागरिकों की समानता और राज्य—पहले कहा जा चुका है कि सामाजिक संगठन का आधार समानता होनी चाहिये। उसी प्रकार राज्य की स्थिरता और उन्नति का तत्व भी समानता में है। जब कोई अपने राज्य नागरिकों में भेदभाव करता है—चाहे वह भेद-भाव उनकी माली हैसियत के आधार पर हो अथवा उनकी जाति, रंग या उनके स्वक्रित धर्म या मत के आधार पर,—जब राज्य किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के लिये ऐसे अधिकार का निषेध करता ह, जिसे वह दूसरों के हित के लिये आवश्यक समझता है तो यह कहा जा सकता है कि

वह राज्य उस व्यक्ति-समूह को पूर्ण नागरिकों से कम समझता है। और ऐसा करने से वह अपने नैतिक आधार को धक्का पहुँचाता है, वह उन नागरिकों की यथेष्ट राज्य-निष्ठा या वफादारी का अधिकारी नहीं रहता, जिन्हें वह कुछ कम अधिकार देता है, अर्थात् जिन्हें वह अपनी पूर्ण नागरिकता से कम का उपभोग करने देता है।

समानता का स्पष्टीकरण—'समानता' से यहां क्या अभिप्राय है, इस विषय में कुछ भ्रम होजाने की सम्भावना है, इसलिये इसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। जन्म के समय सब बच्चों में सादृशता होती है, पर ज्यों-ज्यों वे बढ़ते हैं—उनमें ऐसे प्राकृतिक अन्तर दिखायी देने लगते हैं, जो आरम्भ में मालूम नहीं होते थे। कोई कद में छोटा होता है, कोई बड़ा; कोई कम बलवान होता है और कोई अधिक। किसी का रङ्ग-रूप कैसा होता है, किसी का कैसा। इन प्राकृतिक असमानताओं या विभिन्नताओं का अस्तित्व मिटाया नहीं जा सकता। और सृष्टि में इनका अपना स्थान और उपयोग है। समाज और राज्य का कर्तव्य है कि इनका परिस्थिति के अनुसार यथासम्भव मेल करावे। किसी प्राकृतिक न्यूनता आदि के कारण नागरिकों के विकास में बाधक न हो, वरन् उसका विचार करके उन नागरिकों के लिये विशेष प्रकार की यथाशक्ति योजना करे। कल्पना करो कि राज्य में कुछ आदमी अंधे या बहरे हैं; तो राज्य को चाहिये कि जहां तक सम्भव

हो, इनके इलाज का प्रबन्ध करे, और जिनका यह विकार दूर न हो उनके लिये विशेष प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं का प्रबन्ध करे। यह ठीक है कि राज्य उनका अन्धापन या बहरापन दूर नहीं कर सकता, और ये नागरिक जीवन-संग्राम में अन्य नागरिकों की समानता नहीं कर सकेंगे, परन्तु इनके अन्धा या बहरा होते हुए भी, राज्य की सुव्यवस्था से इनकी बहुतसी असुविधायें दूर हो जायंगी, अन्य नागरिकों से असमानता होते हुए भी ये उस असमानता जनित दुखों का अनुभव कम करेंगे, ये उतनी समानता प्राप्त कर लेंगे, जहां तक उसका प्रदान करना राज्य की पहुंच में है।

अवसर की समानता—राज्य को चाहिये कि वह नागरिकों को अपनी उन्नति या विकास करने के लिये समान अवसर दे। और फिर सब से उनकी योग्यता या कार्य क्षमता के अनुसार लाभ उठावे। उसे किसी नागरिक को किसी ऐसे आधार पर अपनी सुविधाओं से वंचित न कर देना चाहिये, जिस पर उसका कोई वश नहीं था, जिसके लिये वह उत्तर-दायी नहीं ठहराया जा सकता। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति का जन्म ऐसी जाति में हुआ है, जिसे दूसरे आदमी नीच समझते हैं, तो इसमें उस व्यक्ति का क्या दोष है? राज्य को चाहिये, कि उसकी जाति का विचार न कर उसे शिक्षा प्राप्त करने और स्वस्थ रहने आदि का वैसा ही अवसर दे जैसा वह औरों को देता है। और, पीछे उसके बड़ा हो जाने पर, उसकी

योग्यतानुसार उसे कार्य-क्षेत्र में आने में स्वतन्त्रता दे। अर्थात् उसकी जाति विशेष के कारण ही उसे किसी पद आदि से वंचित न करे। राज्य के ऐसे व्यवहार से ही नागरिकों को अपना अधिकतम विकास करने के लिये मिलेगा। अन्यथा, जब नागरिक यह देखते हैं कि उनकी योग्यता या शक्ति बढ़ने पर भी राज्य में उसका कुछ मूल्य न होगा, उन्हें छोटे दर्जे के अर्थात् ऐसे कामों में ही लगना होगा, जिनमें बहुत कम योग्यता की आवश्यकता होती है, तो वह अपनी योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न ही न करेंगे। इससे उनकी हानि के साथ साथ राज्य की भी हानि होगी।

कानूनी समानता—नागरिकों में उन्नति करने की भावना तथा शान्तता तभी रह सकती है, जब उन्हें 'कानूनी समानता' का अधिकार हो, अर्थात् जब कानून की दृष्टि से सब नागरिक समान समझे जांय। जैसा व्यवहार एक के साथ हो, वैसा ही, उसके समान अन्य नागरिकों से हो। राज्य जैसे एक के जान-माल की रक्षा करे वैसे ही दूसरों के जान-माल की रक्षा करे। जो मान पद आदि एक व्यक्ति को दिया जाय वह उसके समान योग्यता वाले प्रत्येक नागरिक को मिल सके। इसमें जाति, पांति, रंग, वंश, धर्म, मत आदि का विचार न किया जाय। सब के अधिकार समान हों। राज्य की ओर से मिलने वाली शिक्षा, आजीविका, स्वास्थ्य, न्याय आदि की सुविधायें सब के लिये समान रूप से रहें।

सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग सम्बन्धी समानता—धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि स्कूल, चिकित्सालय और न्यायालय आदि के उपयोग का अधिकार सब धर्मों के नागरिकों को समान रूप से है। यहां उस बात को और भी व्यापक रूप में समझना चाहिये। अर्थात् जाति, रंग या सम्पत्ति के आधार पर भी इस विषय में भेद भाव नहीं किया जाना चाहिये। ये संस्थायें, नागरिकों की आवश्यकता के अनुसार, पर्याप्त संख्या में होनी चाहिये। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय या जाति वालों को अपनी पृथक् पृथक् संस्थायें चलाने की यथासम्भव आवश्यकता न रहे हाँ, फिर भी यदि वे चाहें तो अपनी संस्था चलाने की उन्हें स्वतन्त्रता रह सकती है, परन्तु राज्य को उनकी सहायता करके उनमें पारस्परिक ईर्षा और प्रतिद्वन्दिता के भावों को जागृत नहीं करना चाहिये।

सरकारी नौकरियां और पद—कोई राज्य अपने नागरिकों से कहां तक समानता का व्यवहार करता है, इसकी जांच के लिये एक प्रत्यक्ष कसौटी यह होती है कि वहां सरकारी नौकरियों या पदों के लिये नियुक्तियां करने में किसी पक्षपात से तो काम नहीं लेता। इसलिये सब नौकरियां या प्रतिष्ठा-सूचक पद प्राप्त करने का मार्ग सब नागरिकों के लिये समान रूप से खुला रहना चाहिये। इनकी प्राप्ति के लिये योग्यता सम्बन्धी नियम ऐसे होने चाहिये, जिनके अनु-

सार उन्हीं गुणों की आवश्यकता हो, जिनका उक्त नौकरियों से घनिष्ठ सम्बन्ध हो, उदाहरणवत् एक खजानची की आवश्यकता है, तो इसके लिये ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति होनी चाहिये जो हिसाब-किताब रखने में होशियार, तथा विश्वसनीय हो। बस, प्रत्येक व्यक्ति को जिसमें यह योग्यता है, इस नौकरी के लिये प्रतियोगिता करने का अवसर मिलना चाहिये। जो सब से अधिक योग्य समझा जाय, उसकी नियुक्ति की जाय, और उसे निर्धारित वेतन दिया जाय। परन्तु, कल्पना करो कि राज्य में ऐसा नियम है कि अमुक जाति या धर्म के, अथवा अमुक रंग वाले आदमी ही नियुक्त हो सकते हैं तो इससे इस कार्य को कर सकने वाले अन्य नागरिकों के साथ अन्याय होगा; और सर्व साधारण की दृष्टि में राज्य का यह कार्य पक्षपात पूर्ण होने से उनकी राज्य से सहानुभूति कम रह जायगी। ज्यों ज्यों ऐसी घटनायें अधिक होंगी, नागरिकों में राज्य के प्रति असन्तोष और विरोध के भावों की वृद्धि होती जायगी। इसलिये सरकारी नौकरियां प्राप्त करने लिये नागरिकों को समान अवसर मिलना चाहिये, जिनमें अधिक योग्यता हो, वह उन्हें प्राप्त करले; ऐसा न होना चाहिये कि कुछ नौकरियां किसी विशेष व्यक्ति समूह के लिये सुरक्षित हों, और दूसरे नागरिक, योग्य होते हुए भी उन्हें प्राप्त करने से वंचित रखे जांय।

ये बातें इतनी साधारण और तर्क संगत हैं कि राजनैतिक विकास वाले राज्यों में इनके विरुद्ध कार्रवाई होने की बात सुनकर अनेक पाठकों को बहुत आश्चर्य होगा। परन्तु संसार में सभी बातें बुद्धि संगत नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, अनेक राज्यों में दो दो व्यवस्थापक सभायें हैं। और दूसरी सभा के सदस्य प्रायः किसी अपनी विशेष योग्यता के आधार पर निर्वाचित नहीं होते, उनकी 'योग्यता', यदि इसे योग्यता कहा जा सके, यह होती है कि वे किसी बड़े माने जाने वाले खानदान के हैं, वे 'बड़े' आदमियों के उत्तराधिकारी हैं। इस प्रकार ये सदस्य अपने पूर्वजों की योग्यता के आधार पर योग्य मान लिये जाते हैं, बहुत समय से माने जाते रहे हैं, और अभी निकट भविष्य में इस प्रथा के लोप होने की आशा नहीं होती। भिन्न भिन्न लेखक और राजनीतिज्ञ भिन्न भिन्न कारणों से इसका समर्थन करते रहते हैं, और लोकमत ऐसा जागृत नहीं हुआ कि भावनाओं और रुढ़ियों को छोड़ कर विशुद्ध युक्तियों से निर्णय करे।

पन्द्रहवां परिच्छेद

शासनाधिकार

"स्वाधीनता बिना तुम अपना कोई कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते; इसलिये तुम्हें इसको प्राप्त करने का अधिकार है।"

—मेज़िनी

शासन-पद्धति—व्यवस्था, शासन और न्याय कार्यों को करने वाले व्यक्तियों या संस्थाओं के संगठन, पारस्पारिक सम्बन्ध और अधिकारों को निर्धारित करने वाले नियमों के समूह को शासन-पद्धति कहते हैं। भिन्न-भिन्न देशों में, समय समय पर उनके निवासियों की बुद्धि, रुचि या सामर्थ आदि के अनुसार तरह-तरह की शासन-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। इस समय भी संसार में कई प्रकार की शासन पद्धतियाँ विद्यमान हैं* किसी भी एक प्रकार की शासन-पद्धति, सब जातियों के लिये तो क्या किसी एक जाति के लिये भी सब दशाओं में अत्युत्तम नहीं हो सकती। तथापि, प्राप्त अनुभव के आधार पर यह

---

* शासन-पद्धति के विचार से राज्यों का प्राचीन तथा आधुनिक वर्गीकरण 'भारतीय-शासन' में बताया गया है।

कहा जा सकता है कि जब राज्य का सूत्र थोड़े से आदमियों या श्रेणियों के हाथ में रहता है तो वे प्रायः अपने ही स्वार्थों का ध्यान रखकर काम करते हैं; इससे औरों का समुचित हित साधन नहीं होता। इसलिये यह आवश्यक है कि राज्य संचालन में देश की सब श्रेणियों या समूहों का यथेष्ठ भाग रहे इस में जाति, रंग, धनी, निर्धन, जमीदार और कृषक आदि का भेदभाव न हो।

शासन सुधार और स्वराज्य—संसार में प्रचलित विविध शासन-पद्धतियों में से कौनसी किसी देश के लिये ठीक रहेगी, इस बात को निश्चय करने का अधिकार उसके नागरिकों को होना चाहिये। नागरिक ही उसमें अपने सामुहिक हित और आवश्यकताओं के अनुसार समय समय पर परिवर्तन या संशोधन कर सकते हैं। राज्य नागरिकों के लिये होता है, और वह उनका हित उसी अवस्था में भली-भांति सम्पादन कर सकता है जब कि वे उसके निमंत्रण और निर्म्माण में समुचित भाग लें।

स्वाभाविक स्थिति में प्रत्येक देश, उसी देश वाले एक या अधिक व्यक्तियों द्वारा शासित होता है। इस दशा में यद्यपि नागरिकों के अधिकार विदेशियों द्वारा अपहरण किये हुए नहीं होते, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि देश की राजनैतिक स्थिति में कुछ सुधारों की जरूरत ही न हो, सम्भव

है स्वराज्य नाममात्र का हो, वास्तव में, सब नागरिकों के लिये स्वराज्य न हो। अस्तु, पराधीनता हर प्रकार की निन्दा है; स्वदेशियों की हो या विदेशियों की; उसे दूर करके वास्तविक स्वराज्य स्थापित करना, तथा यदि देश में स्वराज्य हो है, तो उसकी रक्षा करना, उसे बनाये रखना आवश्यक है।

स्वराज्य का अभिप्राय—स्वराज्य में किसी जाति या धर्म विशेष के आदमियों से न तो कोई सख्ती की जानी चाहिये, और न किसी का पक्षपात ही। वास्तव में स्वराज्य का अर्थ है, नागरिकों का राज्य; प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त हो, और उनके द्वारा चुने हुए त्यागशील और अनुभवी व्यवस्थापकों के लोकमत के अनुसार बने हुए कानूनों के अनुसार ही शासन होना चाहिये। इस नीति की रक्षा करते हुए सब को अपने अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता रहे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी योग्यतानुसार राज्य के बड़े से बड़े मुल्की या फौजी पद प्राप्त हों, और अपनी उन्नति करने की समान सुविधायें प्राप्त हों। किसी समुदाय के व्यक्तियों की संख्या कम ज्यादह होने से, उनके गरीब या अमीर होने से, या अन्य किसी कारण से उनके नागरिक अधिकारों में कमी बेशी न होनी चाहिये।

स्वराज्य प्राप्ति—जिस देश के निवासियों को दुर्भाग्य से स्वराज्य प्राप्त न हों, जो पराधीन हों, उन्हें अपनी नैसर्गिक शक्तियों का समुचित विकास करने, और सामूहिक रूप से

संसार में अपना महान् कर्तव्य पालन करने के लिए स्वराज्य-भोगी बनने का प्रयत्न करना चाहिये। स्वराज्य-प्राप्ति के उपायों के सम्बन्ध में नागरिकों को यथासम्भव अपने व्यक्तिगत विचारों की भिन्नता को त्यागकर संगठित उद्योग करना चाहिये। जब स्वाधीनता प्राप्त हो जाय, वे अपने अपने आत्मिक विश्वासों के अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग से भी देशोन्नति करके अपने प्रबल उत्साह और उमंगों का परिचय दे सकते हैं, परन्तु उसके लिये अवसर भी तो आये। यह तभी हो सकेगा जब नागरिक अपने पारस्परिक मत भेदों को भूलकर, अपनी तंग दिली को दूर कर, सम्मिलित शक्ति से पराधीनता दूर करदें।

स्मरण रहे कि चिरकाल की पराधीनता से किसी देश की जो सब से बड़ी क्षति होती है, वह है उसके नागरिकों की अपने आत्म-गौरव और राष्ट्रीयता की विस्मृति। अतः जो पद-दलित राष्ट्र स्वराज्य प्राप्त करने का अभिलाषी हो उसके पथ-प्रदर्शकों को वहां की जनता में आत्म सम्मान के भावों की जागृति करनी चाहिये। वे विविध प्रकार के मत मतान्तरों या सामाजिक तथा राजनैतिक भेद भावों को दूर कर राष्ट्रीयता पथ के पथिक बनें, सब मिलकर देश माता के चरणों में नत हों। विविध प्रकार की मुसीबतों का सामना करके, आत्म त्याग के उदाहरण से नागरिकों को बलिदान की महिमा सिखायें। तभी समुचित उद्धार--स्वराज्य प्राप्ति की आशा होगी। भिन्न

भिन्न देशों के स्वराज्य प्रेमी नागरिकों को ऊपर कहे हुए तत्वों को सम्यक् रूप से ग्रहण करना चाहिये।

शासनाधिकार और पदाधिकार—कभी कभी कुछ आदमी पदाधिकार आन्दोलन को शासनाधिकार-प्राप्ति का आन्दोलन समझने की भूल कर बैठते हैं। विचारशील नागरिकों को ऐसा न करना चाहिये। उन्हें कुछ ऊंचे पदों की प्राप्ति से संतुष्ट हो जाना कदापि उचित नहीं। उनकी राजनैतिक आकांक्षा यह होनी चाहिये कि अपने देश का शासन स्वयं (अपने प्रतिनिधियों द्वारा) करने का अधिकार प्राप्त करें, जिसका एक अंग पदाधिकार भी है।

अस्तु, प्रत्येक नागरिक को अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी योग्यतानुसार राज्य के विविध ऊंचे से ऊंचे मुल्की या फौजी पद प्राप्त करे, और उन पदों पर रहते हुए सर्व साधारण की अधिक से अधिक सेवा करके मातृ-भूमि के अनन्त उपकारों से यथा शक्ति उऋण होने का यत्न कर सके।

पदाधिकार का महत्व—इस अधिकार से केवल यही लाभ नहीं है कि इससे कुछ नागरिकों की आजीविका का मार्ग प्रशस्त हो जाता है, * वरन् यह भी है कि योग्यतानुसार पद

---

* भारतवर्ष जैसे निर्धन देशों में, इस बात का भी कुछ कम महत्व नहीं होता।

पाते रहने से नागरिकों को राज्य की न्याय-बुद्धि का परिचय मिलता है। इससे सर्व साधारण में सन्तोष और भक्ति के भाव का उदय होता है, जो राज्य की सुख-समृद्धि के लिये अत्यन्त उपयोगी है। पुनः इससे नागरिकों में योग्यता प्राप्ति के लिये उत्साह बढ़ता है, जो जीवन-यात्रा के वास्ते बहुत उपयोगी है। इसके साथ ही जब देश के नागरिक उच्च पदों पर नियुक्त हो सकते हैं तो उनमें आरम्भ से ही एक विशेष प्रकार के स्वाभिमान और उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न होता है, जिससे उनकी विविध शक्तियों का विकास होने में बड़ी सहायता मिलती है। इसके विपरीत, जब नागरिक यह देखते हैं कि अधिकांश उच्च और उत्तरदायी पदों पर पक्षपात पूर्वक अयोग्य व्यक्तियों की नियुक्तियां होती हैं तो बहुधा जाति की जाति में आत्म-विश्वास की मात्रा घटने लग जाती है और राष्ट्र का भयंकर ह्रास होने लगता है।

इस अधिकार की रक्षा—अतः यह बहुत आवश्यक है कि इस अधिकार की भली भांति रक्षा की जाय। राज्य को चाहिये कि जाति-पांति, रंग, धर्म आदि का पक्षपात छोड़कर, देश के नागरिकों को ही विविध सरकारी पदों पर नियुक्त करे, और केवल विशेष परिस्थिति में, और केवल कुछ निर्धारित काल तक ही विदेशियों (अ-नागरिकों) से काम ले। ×

× इस विचार से, भारतवर्ष में कमिश्नर या गवर्नर आदि ही नहीं, गवर्नर-जनरल और कमांडरन चीफ (जंगी लाट) आदि भी साधारण-

पदाधिकार के विषय में इतना कहकर, अब हम इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व यह और बता देना चाहते हैं कि शासनाधिकार का अन्य नागरिक अधिकारों से क्या सम्बन्ध है।

शासनाधिकार का अन्य अधिकारों से सम्बन्ध—पहले कहा जा चुका है कि नागरिकों का कोई अधिकार वास्तव में अधिकार उसी समय कहा जा सकता है, जब कि राज्य उसे मान्य करे और उसकी सम्यग् रक्षा करे। परन्तु जब कि राज्य के संचालन में नागरिकों का यथेष्ट हाथ न हो, जब उन्हें शासनाधिकार न हो, तो नागरिकों का राज्य पर कुछ नियंत्रण नहीं रहता। सरकार और नागरिकों में प्रबल विरोध होता है। सरकार अपनी शक्ति के सहारे नागरिकों का दमन करती है और उनकी सामाजिक, मानसिक, नैतिक तथा आर्थिक आदि उन्नति विकास में पद पद पर बाधक होती है। सरकार समझती है कि नागरिकों की उन्नति उसके शत्रु-पक्ष की बल-वृद्धि है, इसलिये वह हर प्रकार से उनकी ओर से आशंकित रहती है। सरकार का सहयोग न पाने की दशा में नागरिकों में मानसिक विकास यथेष्ट नहीं हो पाता; वे अपने अन्य

तथा भारतवासी ही होने चाहिये। यहां पब्लिक सर्विस (Public Sevrice) की क्या दशा है, यह हम 'भारतीय शासन' में बता चुके हैं।

अधिकारों की रक्षा नहीं कर पाते, और इस प्रकार कालान्तर में वह उनका महत्व भी भूल जाते हैं। वह नागरिकता के भावों से वंचित होकर यंत्र की भांति काम करने वाले हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि शासन-अधिकार सब नागरिक अधिकारों का मूल है, केन्द्र है, आधार है। इसके बिना अन्य अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती। इसलिये नागरिकों को जी जान से इस अधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिये उद्योग करना चाहिये।

सोलहवां परिच्छेद

अधिकारों की प्राप्ति और सदुपयोग

अधिकार किसी का छीनो मत,
किसी से मांगो मत अधिकार ।
अधिकार सुरक्षित रखो अपना,
छोड़ो कभी न निज अधिकार ॥

—अधिकार

नागरिक अधिकारों की घोषणा—हम पिछले परिच्छेदों में नागरिकों के विविध अधिकारों का वर्णन कर चुके हैं। प्रत्येक देश के नागरिकों को चाहिये कि वे यह विचार करें कि उन्हें उक्त अधिकार कहां तक प्राप्त हैं और कहां तक प्राप्त होने शेष हैं। जिन नागरिकों को यथेष्ट अधिकार प्राप्त नहीं हैं वे अपनी नागरिक स्थिति का सम्यग् विवेचन करके एक अधिकार-पत्र तैयार करें और उसमें वर्णित अधिकारों की घोषणा करें तथा उनका अपनी शासन-पद्धति में समावेश करायें, ऐसा न होने से नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध में तरह तरह संघर्ष उत्पन्न होना तथा द्वेष भाव बढ़ते रहना स्वाभाविक है।

अधिकार-प्राप्ति--विचारशील सज्जन अब यह अच्छी तरह समझने लग गये हैं कि, अधिकार मांगने की वस्तु नहीं है; जो लोग स्वार्थ-त्याग करते, कष्ट सहते और धैर्य-पूर्वक आंदोलन करते हैं, उन्हें ही अधिकार मिलते हैं। अतः यदि सच्चा जीवन चाहते हो तो अधिकार-प्राप्ति तथा अधिकार-रक्षा के लिये सदैव कटिबद्ध रहो। इस शुभ और महान कार्य में जो शक्ति तुम्हारी बाधक है, उससे धर्म-युद्ध करना पड़ेगा। निस्संकोच अपने धर्म का पालन करो। जो संकट और मुसीबत सम्मुख आवें उनका सहर्ष और सगर्व स्वागत करो। यदि कोई अधिकारी तुम्हारे इस कार्य में कुछ मनमानी करें तो चुपचाप बैठ कर अपनी कायरता का परिचय मत दो, वरन बेचैन रह कर तथा अपने आन्दोलन द्वारा उन्हें भी अपनी बेचैनी से परिचित कर के, अन्ततः अपने लक्ष को प्राप्त करके रहो और अपनी सजीवता का परिचय दो।

अधिकार-रक्षा--अधिकार प्राप्त कर लेना, और उनका शासन-पद्धति में समावेश करालेना बड़ी अच्छी बात है। परन्तु जब तक लोगों में स्वाधीनता और अधिकार-रक्षा की समुचित भावना न हो, उपर्युक्त कार्य का विशेष महत्व नहीं है। लोगों के अधिकार उसी दशा में सुरक्षित रहते हैं जब वे निरंतर इसके लिये सचेष्ट हों, कभी भी इस ओर असावधानी या उदासीनता धारण न करे।

यद्यपि नागरिका के कुछ अधिकार ऐसे होते हैं जिनका उनसे व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है, और जिसकी रक्षा वे अकेले ही कर सकते हैं और उन्हें करनी चाहिये; परन्तु कुछ दशा ऐसी होती है, जब कि कोई नागरिक अकेला अपने अधिकार की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता। उसे औरों के साथ मिलकर, संघ बनाने, और संगठन करने की आवश्यकता होती है। उदाहरणवत् यदि कोई मजदूर यह चाहे कि कारखाने के नियमों में सुधार हो, अथवा किसान यह चाहे कि जमीदार उस पर तरह तरह की सख्तियां या अत्याचार न कर सके तो वह अकेला इसका समुचित उपाय न कर सकेगा। इस कार्य के लिये मजदूर संघ और किसान-सभाओं आदि के संघटित होने की आवश्यकता होगी। ऐसे संघटन का उद्देश्य पूंजीपतियों या जमीदारों का ख्वाहमख्वाह विरोध करना नहीं होना चाहिये। इनका उद्देश्य केवल अपने न्यायोचित अधिकारों की रक्षा होनी चाहिये। बेहतर है, कि प्रत्येक देश में नागरिक अधिकार रक्षक संघ (Civic rights defence league) स्थापित रहे। जितना कोई राज्य पूर्ण प्रजातंत्र के भावों से दूर है, उसमें उतनी ही संघ की आवश्यकता है। इस संघ की शाखायें और उपशाखायें, देश के भिन्न भिन्न भागों में आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार रहें। इनका कार्य अपने अपने क्षेत्र में नागरिक शिक्षा का प्रचार होना चाहिये। ये नागरिकों के हृदयों से जातीय पक्षपात, साम्प्रदायिक विद्वेष, मज़हबी दीवानापन, तथा अन्ध

परम्परा आदि का निवारण कर उनमें धार्मिक सहिष्णुता, विचार स्वातन्त्र्य, और देश-भक्ति आदि उनविविध गुणों की वृद्धि में सहायक हों, जिनसे सम्पन्न होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने अधिकारों की रक्षा में अधिकाधिक समर्थ हो सकें। जहां हमारा यह कर्तव्य है कि हम दूसरे के उचित व्यवहार में कोई बाधा उपस्थित न करें, वहां हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपना अधिकार किसी को न छीनने दें; हम अपने प्राप्त अधिकारों का न्यायोचित उपभोग करें।

अधिकारोपभोग में ध्यान देने की बात—अधिकारों का समुचित उपभोग चाहने वालों को एक बात कभी भूलनी न चाहिये, वह यह कि हमारे किसी काम से दूसरों का अहित न हो। जहां तक दूसरों के न्यायोचित अधिकारों में व्याघात न पहुंचे हम इस सृष्टि का आनन्द लेने में स्वतंत्र हैं। परन्तु इस सीमा को याद रखना और सदैव मर्यादा में रहना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है।

परन्तु यही काफी नहीं, इसके अतिरिक्त हमें चाहिये कि हम दूसरों के भावों का समुचित आदर-मान करें और, उन्हें उनके अधिकारों की प्राप्ति में यथा शक्ति सहायता दें। जो आदमी दूसरों के अधिकारों की अवहेलना करता या उन्हें निर्दयता पूर्वक कुचलता है, समझलो कि वह उस समय का आह्वान कर रहा है जब वह अपने अधिकारों से वंचित कर दिया जायगा।

इसलिए प्रत्येक देश के नागरिकों को चाहिये कि जहां वे अपने अधिकारों को प्राप्त करने या प्राप्त अधिकारों की रक्षा करने के उद्योग से अपनी सजीवता का परिचय दिया करें, उसके साथ ही वे दूसरों के अधिकारों की रक्षा करके तथा उन्हें उनके अधिकारों को प्राप्त करने में सहायक होकर अपनी मानवता का भी प्रमाण देवें। 'जीओ और जीने दो' की नीति में ही हमारा और हमारे संसार का भला है।

तीसरा खंड

नागरिकों के कर्तव्य

पहिला परिच्छेद

कर्तव्यों का साधारण विवेचन।

"कर्तव्य और अधिकार का परस्पर सम्बन्ध है; इतना ही नहीं, कर्तव्य के कारण ही अधिकार उत्पन्न होते हैं। यदि कर्तव्य न रहे तो अधिकार भी न रहेंगे।

—गोपाल दामोदर तामस्कर

पहिले कहा जा चुका है कि नागरिक-शास्त्र में नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन होता है। अधिकारों के सम्बन्ध में विचार हो चुका; अब कर्तव्यों का वर्णन किया जाता है।

नागरिक-जीवन और कर्तव्य—हमारे नागरिक अधिकार हमारे नागरिक-जीवन के कारण होते हैं, यदि राज्य निर्माण न हो, यदि हम समाज में संगठित न हों तो हमारे ये अधिकार भी न हों। यह बात ठीक है कि नागरिक की हैसियत से मेरा जीवन केवल समाज के ही लिये नहीं है, (अपने लिये भी है) परन्तु इसके साथ यह भी तो एक सच्चाई है कि समाज केवल मेरे ही लिये नहीं है, वह अन्य व्यक्तियों के लिये भी है। समाज में सब के हितों का यथेष्ट ध्यान रखा जाना आवश्यक है। इस प्रकार, यदि समाज में मुझे कुछ अधिकार प्राप्त हैं तो उनके साथ कुछ कर्तव्य भी अनिवार्य हैं। वास्तव में

मेरे अधिकार मुझे इसलिये प्राप्त हैं कि मैं अपनी उन्नति और विकास करने के साथ समाज की या राज्य की भी उन्नति और विकास में भी योग दूं। जैसा कि इस पुस्तक के आरम्भ में बताया जा चुका है, हमें समाज (तथा राज्य से) विविध प्रकार की सुविधायें और सुख मिलते हैं, तो हमें भी उसके लिये सुख और सुविधायें पहुंचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। उदाहरणार्थ, राज्य में मेरे जान माल की रक्षा होती है तो मुझे भी किसी के जान-माल पर आक्रमण या हस्तक्षेप न करना चाहिये, वरन् दूसरों की जान-माल की रक्षा में यथा सम्भव सहायक होना चाहिये। इसी प्रकार मुझे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है तो यह आशा की जाती है कि मैं उसके द्वारा दूसरों को लाभ पहुंचाऊंगा और इस तरह राज्य के ज्ञान-भंडार को बढ़ाने में यथाशक्ति योग दूंगा।

कर्तव्य पालन प्रत्यक्ष होना चाहिये—प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। उसे यह न समझ लेना चाहिये कि यह कार्य स्वयं हो जायगा। सृष्टि में प्रत्येक कार्य तभी होता है, जब वह किया जाता है। इस साधारण सच्चाई को मनुष्य व्यवहार में भुला देते हैं। अनेक आदमी जो समाज तथा राज्य में रहते हैं, अपने कर्तव्य पालन की अवहेलना करते हैं। प्रत्येक राज्य में कुछ धनवान, पूंजीपति, जमींदार या महन्त आदि ऐसे होते हैं जो समाज और राज्य के लिये कोई प्रत्यक्ष सेवा या उत्पादक कार्य नहीं

करते । वह इस ओर ध्यान ही नहीं देते। यदि उनका ध्यान इस ओर जाय भी तो सम्भवतः वह यह समझ लेंगे कि किसी व्यक्ति विशेष का पुत्र या उत्तराधिकारी होने या किसी खास धर्म या सम्प्रदाय का गुरु या आचार्य होजाने मात्र से उनका समाज और राज्य के प्रति सब ऋण स्वयं चुक जाता है। यह धारणा व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से हानिकर है।

कर्तव्य पालन से व्यक्ति का हित—किसी को यह न समझना चाहिये कि दूसरों के प्रति पालन किया जाने वाला कर्तव्य हमारे लिए एक भार मात्र है, जिससे हमारा कोई हित साधन नहीं होता। हम जो कार्य या सेवा करते हैं, उससे हम कुछ न कुछ सीखते हैं, उससे हमें वह कार्य करना आता है, हमारी उस कार्य करने की शक्ति बढ़ती है, तथा उसके करने में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उनका क्रमशः विकास होता है। प्रत्येक मनुष्य में कई प्रकार की अन्तर्निहित शक्तियां और गुण होते हैं, उनमें जिनका उपयोग होता है, उनके बढ़ने का अवसर मिल जाता है, अन्य शक्तियां और गुण काम में न आने से अविकसित रह जाते हैं और प्रायः लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ साधारण मनुष्य में दूसरों के दुख से दुखी होने और उनसे सहानुभूति तथा दया का भाव दर्शाने, दूसरों पर अत्याचार होते देखकर अत्याचारी से घृणा करने, स्वतंत्रता से प्रेम करने, अपनी या औरों की विजय पर प्रसन्न होने की आन्तरिक अभिलाषा होती है। कुछ व्यक्तियों में परिवार विशेष

आदि के संसर्ग से यह प्रवृत्ति न हो, तो यह दूसरी बात है, इससे सर्व साधारण के विषय में उपर्युक्त बात ठीक होने में कोई अन्तर नहीं आता। अस्तु, जो मनुष्य दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसमें उक्त गुणों की वृद्धि होती है, उसके चरित्र, तथा शारीरिक, मानसिक और भौतिक शक्तियों का विकास होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति आलस्य या कुसंस्कार आदि के कारण अपना कर्तव्य पालन नहीं करते, वे अपने विकास का मार्ग बन्द कर देते हैं, वे साधारण स्थिति में पड़े रह जाते हैं, वे स्वार्थी, संकुचित विचार वाले होते हैं। वे अपने उदार, उत्तम, दैवी-गुण सम्पन्न मनुष्य होने में स्वयं बाधक हो जाते हैं।

कर्तव्य पालन से समाज का हित—नागरिकों के कर्तव्य पालन से समाज (या राज्य) का हित दो प्रकार से होता है। जो कर्तव्य नागरिक, उनके प्रति पालन करते हैं, उनसे तो उनका हित होना स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त जो कर्तव्य वे अपने प्रति पालन करके अपनी उन्नति या विकास करते हैं, उनसे भी अप्रत्यक्ष रूप से समाज का हित साधन होता है, कारण समाज व्यक्तियों का ही तो बना है, जब उसके भिन्न भिन्न अंगों—व्यक्तियों की उन्नति होगी तो उसकी समष्टि रूप से भी उन्नति हो जायगी। दृष्टान्त स्वरूप एक मकान ईंटों का बना होता है, जब प्रत्येक ईंट मजबूत और सुघड़ होगी तो मकान के अच्छा होने में क्या संदेह है। इसी प्रकार व्यक्तियों

के अपने कर्तव्य पालन करके अपनी उन्नति करने से भी समाज का हित साधन होता है।

कर्तव्य पालन की सीमा—मनुष्य को कर्तव्य पालन कहां तक करना चाहिये? क्या वह केवल उस सीमा तक ही कर्तव्यों का पालन करे, जहां तक वे सरल और सुगम हों, जिसके पालन में उसे कोई कठिनाई प्रतीत न हो? क्या मनुष्य का कार्य आत्म-त्याग और बलिदान पूर्ण न होना चाहिये? समय-समय पर भिन्न-भिन्न देशों में ऐसे महात्मा पुरुष हो गये हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व समाज या राज्य के हितार्थ न्यौछावर कर दिया। उनके प्रशंसनीय कृत्य मानव इतिहास के सुनहले पृष्ठों को अलंकृत कर रहे हैं। उनकी, सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी स्मृति बनी हुई है। कवि, लेखक एवं सर्व साधारण भिन्न-भिन्न रूप से उन्हें श्रद्धांजलियां अर्पित करते हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में भी संसार ऐसे महापुरुषों से वंचित नहीं है, जो परोपकार के लिये न केवल अपना वैभव और ऐश्वर्य त्याग रहे हैं, वरन् आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की भेट चढ़ाने को हर समय उत्सुक रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों के कर्तव्य की कोई सीमा नहीं है, वह न केवल अवकाश का समय या संचित धन दे सकता है और निस्वार्थ कार्य कर सकता है, वरन् वह दूसरों के लिये अपनी जान जोखम में डाल सकता है और अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकता है।

कर्तव्य-पालन का समय—क्या मनुष्य के जीवन में कर्तव्य-पालन का कोई खास समय है, क्या यह कहा जा सकता है कि अमुक उम्र का होने पर मनुष्य को अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिये ! नहीं, जब से होश सम्भालता है, तभी से उसके कर्तव्य आरम्भ हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों उसकी शक्ति, योग्यता और आयु बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके कर्तव्य का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जायगा।

स्मरण रहे, कर्तव्य-पालन के लिये, जिस प्रकार हमारी आयु का कोई खास भाग निर्धारित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हमारे जीवन के किसी वर्ष का कोई महिना, या महिने का दिन आदि भी ऐसा नहीं बताया जा सकता, जब हमें अन्य कामों से छुट्टी हो और उस समय हम कर्तव्य-पालन करने में लगें। हम दिन रात हर समय जो कार्य करते हैं, उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। यदि हमारी दिन-चर्या, हमारा व्यवहार अच्छा है, तो उसे देखकर उसका अनुकरण करने वाले उससे लाभ उठावेंगे, अन्यथा यदि वह बुरा है तो सम्भव है, जिनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, वे भी उसे केवल देखकर ही बड़ी हानि उठावें। इस प्रकार हमारे कर्तव्य पालन की परीक्षा हर घड़ी होती रहती है। हमें सदैव सतर्क रहना चाहिये। हमें यह कदापि न सोचना चाहिये कि

अमुक कार्य तो मैं अपने सम्बन्ध में कर रहा हूं, यदि यह बुरा भी है तो मैं दूसरों का क्या बिगाड़ता हूं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, समाज में रहना आरम्भ करने के बाद हमारा बहुत-सा जीवन व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक हो गया है। हर समय होने वाले हमारे कार्यों का प्रभाव, भला या बुरा दूसरों पर पड़ता है। इस विचार से हमें सदैव ही अच्छा कार्य करना चाहिये, हमारे कर्तव्य-पालन का कोई समय निर्धारित नहीं है।

कर्तव्य-पालन और स्वतन्त्रता—कर्तव्यों के विषय में एक बात विचारणीय है। कुछ नागरिक कभी-कभी यह समझते हैं कि कर्तव्यों के बन्धन में पड़ने से हमारी स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित होती है। यह बड़ी भूल है। इसमें पड़कर उन्हें कर्तव्य-पालन में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। वास्तव में नागरिकों के सामुहिक हित की रक्षा के लिए ही तो कर्तव्य निर्धारित किये जाते हैं। यदि कोई नागरिक मनमानी उद्दण्डता और स्वेच्छाचारिता का व्यवहार करे, और उसे रोका न जाय तो दूसरों में भी वैसी ही भावना का उदय होना स्वाभाविक है। इससे समस्त समाज के अपने उचित कर्तव्यों के पालन (तथा अधिकारों के उपभोग) में बड़ी बाधा उपस्थित होगी, और अन्त में अव्यवस्था तथा अराजकता का साम्राज्य होने से नागरिक जीवन की बड़ी दुर्दशा होगी। इसलिये नागरिकों को

कर्तव्य-पालन की ओर समुचित ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। हमें अपने सुख या सुविधा का कार्य उस सीमा तक ही करना उचित है जहां तक दूसरों की उन्नति में बाधा न हो। हमें दूसरों के स्वार्थों का समुचित ध्यान रखना चाहिये, और कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये, जिसे यदि दूसरे नागरिक भी करने लगें तो नागरिक जीवन क्षुब्ध होजाय। इस प्रकार सब आदमियों के अपना-अपना कर्तव्य-पालन करने से ही सब की स्वतन्त्रता में सहायता मिलती है।

कर्तव्यों का वर्गीकरण—नागरिकों के परस्पर में भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं; कोई हमारा भाई-बहिन है, कोई हमारी माता या पिता है, कोई हमारे गांव या नगर का निवासी होता है, इन सब के प्रति हमारे भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्य होते हैं। इसी प्रकार कहीं धार्मिक सम्बन्ध से कुछ कर्तव्य-पालन करना होता है, और कहीं सामाजिक सम्बन्ध से। राज्य हमारी उन्नति और सुख-शांति में सहायक होता है, उसके प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। पुनः इन कर्तव्यों के पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी शारीरिक तथा मानसिक आदि उन्नति करें, अर्थात् अपने प्रति भी उचित कर्तव्यों का पालन करें। इस प्रकार नागरिक कर्तव्य विविध प्रकार के हैं। अगले परिच्छेदों में हम उनका क्रमशः विचार करेंगे।

स्मरण रहे कि कर्तव्यों के वर्गीकरण का कोई विशेष सर्वमान्य नियम या स्वरूप नहीं है। बहुधा एक प्रकार के कर्तव्यों का दूसरे प्रकार के कर्तव्यों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है; और बहुत से कर्तव्यों के विषय में यह निश्चय करना भी कठिन होता है कि उन्हें किस वर्ग में रखा जाय। भिन्न-भिन्न लेखक अपने विचार या वर्णन की सुविधा के अनुसार अलग-अलग रीति से इनका वर्गीकरण कर लेते हैं।

दूसरा परिच्छेद

अपने प्रति कर्तव्य

"जो लोग अपना ऋण अपने आप को पूरी तरह से अदा कर देते हैं, उनके तीनों ऋण (परमेश्वर की तरफ, मनुष्य मात्र की तरफ, देश भूमि की तरफ) खुद ब खुद अदा हो जाते हैं।"

—स्वामीराम

"किसी समाज के दृढ़ एवं पुष्ट होने के लिये उसके व्यक्तियों का बलवान और क्रियाशील होना उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर से काम लेने के लिये उसके सब अंगों का, तथा यंत्र से काम लेने के लिये उसके सब पुर्जों का दृढ एवं कार्यकारी होना अपेक्षित है।"

—बदरीदत्त जोशी

अपने प्रति कर्तव्य पालन करने का महत्व—अपने इच्छा से हो, अथवा लोकमत आदि के विचार से हो, अनेक आदमी दूसरों के प्रति-पालन किये जाने वालों कर्तव्यों का तो कुछ ध्यान रखते हैं, परन्तु बहुधा वे यह भूल जाते हैं कि उन्हें स्वयं अपने प्रति भी कुछ कर्तव्यों का

पालन करना है। तनिक विचार किया जाय तो मालूम हो जायगा कि जिस प्रकार हमें दूसरों के साथ न्याय, दया और ईमानदारी का व्यवहार करना चाहिये, उसी तरह हमें अपने प्रति भी समुचित न्याय आदि करने की आवश्यकता है। यदि हम अपनी शक्तियों का ईमानदारी से उपयोग नहीं करते, हम उनका दुरुपयोग करते हैं, तो चूंकि हम अपने राज्य के एक अंग हैं, और हमारी उन्नति पर राज्य की उन्नति निर्भर है, हमारी अपने प्रति अवहेलना करने से, हम अप्रत्यक्ष रूप राज्य के प्रति अवहेलना करते हैं। इसके विपरीत अपनी विविध प्रकार की योग्यता बढ़ाने और शक्तियों का विकास करने से, हम एक सीमा तक राज्य के और समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। इस प्रकार, अपने प्रति अन्याय करना गौण रूप से दूसरों के प्रति अन्याय करना हो जाता है, और इनमें से पहली बात वैसी ही निन्दनीय समझी जानी चाहिये, जैसी कि दूसरी। हमें स्मरण रखना चाहिये कि जितना अधिक कोई नागरिक स्वयं उन्नत होगा, उतना ही अधिक वह दूसरे नागरिकों की उन्नति में सहायक हो सकता है। अतः प्रत्येक नागरिक को अपनी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक आदि उन्नति की ओर यथेष्ठ ध्यान देना चाहिये।

शारीरिक उन्नति—धर्म अर्थात् विविध कर्तव्यों के पालन करने का प्रधान साधन हमारा शरीर है। इसके रोगी हो जाने

पर हम स्वयं तो अपना उत्तरदायित्व निभाने में असमर्थ हो ही जाते हैं, साथ में अपने निकटवर्ती सम्बन्धियों के कार्य में भी बाधा डालते हैं। हम अपनी सेवा शुश्रुषा कराने में उनका बहुत-सा ऐसा समय और शक्ति खर्च करा देते हैं जिससे वे अन्य उपयोगी कार्य कर सकते थे। इस प्रकार अस्वस्थ होना एक अपराध है; इससे हमें सदैव बचने का उद्योग करना चाहिये। स्मरण रहे कि हमारी अधिकांश बीमारियों का कारण प्रायः हमारी असावधानी ही होती है। नियमानुसार दिनचर्या रखने से, अर्थात् जल, वायु, भोजन, वस्त्र, व्यायाम, विश्राम संयम तथा ब्रह्मचर्य आदि का समुचित ध्यान रखने से हमारा शरीर प्रायः निरोग और हृष्ट-पुष्ट रह सकता है। इन बातों का ज्ञान दुर्लभ नहीं है, तथापि इनका पालन कितना कम होता है, इसका प्रत्येक नागरिक अपने स्वास्थ्य पर दृष्टि डाल-कर स्वयं विचार कर सकता है।

जब कोई व्यक्ति अपनी किसी सुविधा या रुचि का विचार करके अनियमित जीवन व्यतीत करता है, तब उसे शीघ्र या कुछ देर में प्रत्यक्ष या परोक्ष में अपने अपराध का दंड भुगतना होता है, किसी प्रकट या गुप्त बीमारी का शिकार होना पड़ता है। उदाहरण के लिए पान, बीड़ी, सिग्रेट, भांग या मद्यपान आदि व्यसनों में ग्रसित व्यक्तियों या मंडली के वातावरण में रहकर, उनमें इन दुर्गुणों का आना सहज

है । इससे उनके स्वास्थ्य तथा चरित्र की भयंकर क्षति होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उपर्युक्त वातावरण के प्रवाह में न बह जायँ । जिस बात को हम वास्तव में बुरी समझते हैं, उसे यह सोचकर न करने लगें कि हमारे मित्र ऐसा कर रहे हैं और हम से भी वैसा करने का अनुरोध करते हैं । यह भी विचार नहीं होना चाहिये कि एकबार या एक ही दिन गलती करने में कुछ हर्ज नहीं । हमें खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस एक दिन और एक बार की छोटी-सी बात में ही हमारे आत्मबल की परीक्षा हो चुकेगी, यदि इसमें उत्तीर्ण न हुए, तो स्वास्थ्य तथा चरित्र की दृष्टि से, हमारे जीवन भ्रष्ट होने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा । अस्तु, नागरिकों को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये । +

मानसिक उन्नति—शारीरिक शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ मानसिक उन्नति की भी बड़ी आवश्यकता है । हमें स्मरण रखना चाहिये कि जैसे हमारे विचार होते हैं, बहुत कुछ वैसे ही हम बन जाते हैं । इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन

+पाठक विचार करें कि भारतवासियों का स्वास्थ्य कितना खराब है, और फलतः उनकी आयु कितनी कम होती जा रही है, इसमें उनकी दरिद्रता, बालविवाह आदि कुरीतियां और अन्धविश्वास कहां तक बाधक हैं, इसका सुधार होने और उत्तम दूध की सुव्यवस्था की कितनी आवश्यकता है । इस विषय में तथा मानसिक उन्नति के विषय में हमने अपने विचार 'भारतीय राष्ट्र निर्माण' में प्रकट किये हैं ।

पर कड़ा पहरा देने की आवश्यकता है कि कोई बुरा विचार उसमें प्रवेश न करने पाये। प्रतिदिन ही नहीं, प्रत्येक समय उसमें अच्छे स्वास्थ्यप्रद और उन्नतिकारक विचारों को ही स्थान मिले। पास बैठने-उठने वाले मित्रों तथा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों के चुनाव में यथेष्ट सावधानी बर्तने की आवश्यकता है। हमें अपना आदर्श या जीवनोद्देश्य ऊंचा रखना चाहिये। अपने को निकम्मा या अयोग्य न समझना चाहिये। हमें सदैव ऐसा विचार रखना चाहिये कि हम समाज और राज्य के एक आवश्यक अंग हैं, हम अपनी शक्ति और योग्यता बढ़ाने के साथ-साथ उनके निर्माण, रक्षा और उन्नति तथा सुधार में यथेष्ट भाग लेंगे।

शिक्षा और सदाचार—प्रत्येक व्यक्ति से यह तो आशा नहीं की जा सकती कि वह बहुत ही विद्वान या पंडित होगा, परन्तु समाज और राज्य में, साधारण शिक्षा से भी वंचित व्यक्ति का जीवन तो बहुत कष्टप्रद होता है। और नहीं, तो अपनी सांसारिक यात्रा को सुगम बनाने के विचार से ही, प्रत्येक नागरिक को इतनी शिक्षा अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिये, कि जिससे वह रोजमर्रा के लिखने-पढ़ने के कामों के लिये दूसरों का आश्रित न रहे, और विविध लेखकों के समयोपयोगी और उच्च विचार जान सके। शिक्षा का अर्थ केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं है, केवल लिखना पढ़ना सीख लेने से ही कोई व्यक्ति शिक्षित नहीं समझा जाना चाहिये। शिक्षा का अभिप्राय नाग-

रिकों की विविध शक्तियों का यथेष्ट विकास करना और उन्हें जीवन-संग्राम के लिए उपयुक्त बनाना है।

पुनः नागरिकों को सदाचारी होने की बड़ी आवश्यकता है। सदाचार-हीन मनुष्य पशु के समान है; नहीं, नहीं उससे भी गया बीता है। प्रत्येक नागरिक को सच्चरित्र, सत्संग, शिष्टा-चार, सत्यता, मिष्ट-भाषण आदि सद्गुणों का सदैव व्यवहार करते रहना चाहिये। इनका प्रभाव हमारे मन के अतिरिक्त शरीर पर भी यथेष्ट पड़ता है। जो आदमी क्रोधी, चिड़चिड़े, कायर, ईर्षालु, दुश्चरित्र होते हैं, वे प्रायः प्रसन्न या स्वस्थ नहीं रहते। इसलिये इस ओर, और भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

आर्थिक उन्नति; स्वावलम्बन—हमें स्मरण रखना चाहिये कि यदि हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर भार स्वरूप रहें तो हमारे बहुत से गुण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। कहा है कि भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता! जो मनुष्य अपना (या अपने परिवार का) पेट पालने के लिए दूसरों के आश्रित रहता है, उसमें मिथ्या-भाषण, मिथ्या-स्तुति, हां-हजूरी और खुशामद आदि दुर्गुण स्वभावतः हो जाते हैं। उसमें स्वाभिमान और निर्भयता का भाव रह ही नहीं सकता। इसलिए स्वावलम्बी होना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यन्त आव-श्यक है।

यह बात बहुत ही निन्द्य है कि कोई आदमी निरा बेकारी का जीवन व्यतीत करे और बैठे बैठाये मुफ्त में रोटी, कपड़ा आदि पाता रहे। वास्तव में केवल अंधे, लूले, लंगड़े आदि अपाहिज को ही अपने तईं दया का पात्र मानना चाहिये। इनके अतिरिक्त किसी आदमी को दूसरे के या समाज के परि-श्रम से कमाये हुए धन का उपयोग न करना चाहिये। यही नहीं, हम तो यहां तक कहेंगे कि पैत्रिक धन, जायदाद, अथवा दान-धर्म या रिश्वत की आय पर मौज उड़ाना और स्वयं हाथ पैर न हिलाना भी ठीक नहीं है। मानवी गुणों के सद् विकास के लिए शारीरिक या मानसिक श्रम करते रहना परमावश्यक है।

मानसिक और शारीरिक कार्य—कुछ सज्जनों का यह मत है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वार्थ-पूर्ण कार्य के लिए प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ शारीरिक ही परिश्रम करना चाहिए; उनके मत से उदर पूर्ति आदि के लिए मानसिक शक्तियों का उपयोग करना तो उनका दुरुपयोग करना है। इस दृष्टि से सम्पादकों, लेखकों, अध्यापकों, उप-देशकों आदि को अपने-अपने श्रम के प्रति फल स्वरूप कुछ न लेना चाहिये; हां, समाज उनके निर्वाह की व्यवस्था करे। हो सकता है कि यह आदर्श प्राचीन भारत में बहुत कल्याण-कारी रहा हो, और विशेष दशा में अब भी यह लाभदायक

हो, परन्तु हम यह समझते हैं कि आधुनिक परिस्थिति में साधारणतया यह अव्यवहारिक है। हमारे मत से मानसिक कार्य करने वालों को शारीरिक कार्य भी करने पर वाध्य न किया जाना चाहिए।

अस्तु, अब हमें केवल इतना ही वक्तव्य है कि मुफ्त की रोटी कोई न खाय। प्रत्येक व्यक्ति व्यापक अर्थ में श्रमजीवी हो वह चाहे मानसिक कार्य करे या शारिरिक। हां, शारीरिक कार्य करने वाले को मानसिक कार्य करने वाले निम्न श्रेणी का समझें, यह सर्वथा अन्याय है। देश और समाज के लिए विविध प्रकार के कार्यों की आवश्यकता होती है, जो आदमी किसी उपयोगी कार्य द्वारा, अपना निर्वाह करते हैं वे सब नागरिकता के नाते समान आदरणीय हैं। निदान स्वावलम्बन नागरिकों का एक आवश्यक कर्तव्य है। *

मितव्ययिता और सादगी—बहुत कम नागरिक मितव्ययिता से काम करना और सादगी का जीवन व्यतीत करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि जब मिलता है तो क्यों न खायें, पीयें, मौज करें। अब तो मजे से गुजर जाय, आगे की भाग्य भरोसे। ऐसी

* भारतवर्ष में साधु महात्मा कहे जाने वाले अनेक आदमी अपने इस कर्तव्य का पालन नहीं करते, फिर भी वे समाज में आदरणीय माने जाते हैं। इस विषय के प्रचलित विचारों में आमूल परिवर्तन होने की आवश्यकता है।

बातों से नागरिकों की अल्पज्ञता तथा अदूर्दशिता स्पष्ट प्रतीत होती है। उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि सादगी के जीवन का उच्च विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुनः, आज हम स्वस्थ हैं, धनोत्पादन कर रहे हैं, कौन जाने, कल हम अस्वस्थ हो जायें, अथवा आजीविका के साधन की प्राप्ति कठिन हो जाय, या कोई अन्य दुर्घटना हो जाय, और हमें दूसरों के आगे हाथ पसारना पड़े। इसलिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि यथाशक्ति अपनी आय में काम चलावें, और किसी से कभी ऋण न लिया करें, वरन् हमें चाहिये कि प्रति मास कुछ बचत करने की आदत डालें, फजूल खर्ची और शौकीनी से बचें, जिससे संचित धन संकट आदि के समय हमारे (या दूसरों के) काम आये।

तीसरा परिच्छेद

परिवार के प्रति कर्तव्य

'हमारी सभ्यता का सर्वोत्तम मापक हमारा पारिवारिक जीवन है।'

"घर ! अहा !! यह कैसा मधुर शब्द है।" इस शब्द के उच्चारण मात्र से बच्चों की हँसी, प्रेम की वार्तालाप और परिचित पैरों की ध्वनि का चित्र खिंच जाता है ! "

हमारा पारिवारिक सम्बन्ध—हमारे अन्य मनुष्यों से जो तरह-तरह के सम्बन्ध हैं, उनमें पारिवारिक सम्बन्ध सब से मुख्य और घनिष्ट है। इस सम्बन्ध को अन्य सम्बन्धों का आधार कहा जा सकता है, यदि यह सम्बन्ध न हो तो हमारा अन्य मनुष्यों से बहुतसा सम्बन्ध होने की नौबत ही न आये।

परिवार के प्रति नागरिक का क्या कर्तव्य है, इसका सूक्ष्म उल्लेख इस पुस्तक के आरम्भ में किया जा चुका है, यहां भिन्न-भिन्न सदस्यों के प्रति पालन किये जाने वाले कर्तव्यों का कुछ व्यौरेवार विचार किया जाता है। पहले माता-पिता के प्रति नागरिक के क्या कर्तव्य हैं, इसका विचार करते हैं।

माता-पिता के प्रति कर्तव्य—कोई नागरिक अपने माता-पिता से उऋण नहीं हो सकता; इनमें भी माता का उपकार तो हमारे ऊपर अपरिमित ही होता है।

नागरिकों का कर्तव्य है कि वह माता-पिता की समुचित सेवा-सुश्रुषा करे। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने दे। यही नहीं हमें ध्यान रखना चाहिये कि वृद्धावस्था में उन्हें यथेष्ट विश्राम मिले, उन्हें शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का असह्य परिश्रम न करना पड़े। उनकी बीमारी की दशा में उनकी यथासम्भव दवा-दारू की जाय। और जहां तक बने उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट रक्खा जाय, तथा उनका आदर-मान किया जाय।

जब तक किसी व्यक्ति को अपना भला-बुरा समझने की योग्यता न हो, उसे अपने माता-पिता की सभी आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। पीछे, सयाने होने पर हमें विचार कर लेना चाहिए कि उनकी कोई आज्ञा ऐसी तो नहीं है जो नीति विरुद्ध या हमारी आत्मा के लिए अमान्य हो, जो हमारे नागरिक उत्तरदायित्व को निभाने में बाधक हो। ऐसी आज्ञा को मानने के लिये हम बाध्य नहीं हैं, इसका विरोध करना हमारा कर्तव्य है। परन्तु स्मरण रहे कि वैसी आज्ञा देते समय भी माता-पिता हमारे आदर और भक्ति के अधिकारी अवश्य हैं। हमें उनके प्रति सदैव नम्रता और शिष्टाचार का व्यवहार करना

चाहिये, हां उनकी अनुचित आज्ञा की अवहेलना करते समय भी हमारे आदर भाव में कोई न्यूनता न आनी चाहिये। हमें चाहिये कि हम शान्ति और विनय-पूर्वक उन्हें समझावें, और यदि वे फिर भी ऐसा ही आदेश करें तो विनीत भाव से ही हम उसे अमान्य करें।

पति का स्त्री के प्रति कर्तव्य—पति स्त्री को अपने भोग-विलास की साधन न समझ ले, वह उसके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्तरदायी है। भारतीय-साहित्य में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया है। पति को ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने इस आधे अंग की अवहेलना करके जीवन-संग्राम में यथेष्ट सफलता नही पा सकता। यदि वह उसे अपने उच्च विचारों, आदर्शों और आकांक्षाओं में साझीदार नहीं बनाता तो उसे न केवल उससे कोई सहायता ही मिलेगी, वरन् पद-पद पर अनेक बाधायें मिलने की सम्भावना होगी। इसलिये जहां तक बने वह अपनी स्त्री की उन्नति में सहायक हो; साथ ही यह भी अहंकार न करे कि मैं प्रत्येक विषय में अधिक ज्ञानवान हूँ, और स्त्री हर एक बात में अल्पज्ञ है, उसे चाहिये कि इस बात का विचार करे कि जो गुण स्त्री में विशेष हों, वह उससे लेवे। इस प्रकार के व्यवहार से ही वह अपनी स्त्री के गुणों के विकास और उसकी योग्यता की वृद्धि में ऐसी सहायता दे सकता है, जिसे देना उसका कर्तव्य है।

स्त्री का पति के प्रति कर्तव्य–स्त्री को समझ लेना चाहिये कि वह पुरुष के शारीरिक अथवा पाशविक सुख की सामग्री नहीं है और न वह उससे केवल रोटी-पानी या वस्त्राभूषण पाने की अधिकारी है। स्त्री पुरुष के शारीरिक सुख के साथ मानसिक और आत्मिक शांति को प्रदान करने वाली महान् विभूति है। रही, उसके पुरुष से भोजन-वस्त्रादि लेने की बात वह तो एक गौण विषय है। और अच्छा हो प्रत्येक स्त्री में थोड़ा-बहुत आर्थिक स्वतन्त्रता का भाव हो, उसे कोई ऐसा कार्य आता हो, जिससे वह आवश्यकता होने की दशा में अपना निर्वाह स्वयं कर सके, दूसरों का मुंह न ताकती रहे। अस्तु, स्त्री को चाहिये कि वह पति की वास्तव में अर्धांगिनी हो, उसके सुख-दुख में साथी हो, उसकी उन्नति में सहायक हो, अपनी उन्नति के लिए उससे समुचित सहायता ले। घर के काम धंधे को ऐसी चतुराई से सम्भाले तथा घर की अन्य स्त्रियों से ऐसा प्रेम मय वार्तालाप करे कि पति को उस विषय में विशेष चिन्ता न करनी पड़े। वह मितव्ययी, सहनशील और उदार प्रकृति हो, तथा घर में शांति, सुख और संतोष की वर्षा करने वाली हो। इस प्रकार जहां तक उसका सम्बन्ध है, उसे नागरिक जीवन को उन्नत और विकसित करने में भागीदार होना चाहिये।

सन्तान के प्रति कर्त्तव्य—हमारे बच्चे देश के भावी नागरिक हैं, इस दृष्टि से उन्हें शारीरिक, मानसिक तथा अध्या-

त्मिम दृष्टि से उन्नत करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति में, बाल्यावस्था में पड़े संस्कारों का प्रभाव बहुत अधिक होता है। इस अवस्था में जैसा कोई देखता, सुनता और अनुभव करता है, बहुत कुछ उसी का प्रतिबिम्ब उसमें जन्म भर मिलता रहता है। इसलिये माता-पिता को बड़ी सावधानी से व्यवहार करना चाहिये, और अपनी सन्तान की—लड़का हो चाहे लड़की—निहित शक्तियों के विकसित होने का सम्यग् अवसर देना चाहिये। प्रत्येक पुरुष और स्त्री का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों को अधिक से अधिक योग्य स्वस्थ, शिक्षित और सदाचारी बनावे। यही सब से बड़ी और सब से उत्तम विरासत है जो कोई नागरिक अपने राज्य और समाज के लिये छोड़ सकता है। इस विषय पर बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु विस्तार-भय से निम्न लिखित दिग्दर्शन मात्र से ही संतोष किया जाता है।

स्मरण रहे कि बच्चों के प्रथम आचार्य उनके माता-पिता ही होते हैं। जो शिक्षा किसी बालक या बालिका को घर में पिता, माता, विशेषतया माता द्वारा, उपदेश से नहीं, आचरण और उदाहरण से प्राप्त होती है, उसका प्रभाव प्रायः जन्म भर के लिये स्थायी होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि माता पिता अपने महान् उत्तरदायित्व को समझें और अपनी संतान को सदाचारी, स्वस्थ और सुयोग्य नागरिक बनने की समुचित शिक्षा दें।

माता पिता के अतिरिक्त, घर में चाचा ताऊ, चाची ताई, तथा बड़े भाई, बड़ी बहिन आदि के भी आचरण और व्यवहार द्वारा छोटे बालक बालिकाओं को ऐसा अवसर नहीं मिलना चाहिये, जिससे उनके कोमल हृदय पर कोई अनिष्टकारी प्रभाव पड़े। बड़ा होने पर मनुष्य में बहुत कम परिवर्तन होते हैं। बालक को जैसा चाहे, बहुत कुछ, वैसा बनाया जा सकता है। इसलिये जिस किसी का बालक के पालन-पोषण आदि से कुछ सम्बन्ध है, उसे चाहिये कि बालक को मनुष्यत्व प्राप्त करने का समुचित अवसर दे, उसकी यथेष्ट सहायता करे, जिससे उसकी आदतें, आचार, विचार व्यवहार सब निर्दोष हों। यदि बालक बड़ा होकर बिगड़ जाय तो इसके लिये वह स्वयं दोषी है। परन्तु सम्भावना प्रायः यह होती है कि यदि आरम्भ में उसमें मनुष्यत्व (इन्सानियत) आगयी तो वह मनुष्य रहेगा और संसार के विस्तृतक्षेत्र में अपने कर्तव्य का समुचित पालन करेगा।

भाई और बहिन के प्रति कर्तव्य—प्रत्येक लड़के ओर लड़की को स्मरण रखना चाहिये कि वे तथा उनके भाई ओर बहिन एक ही माता पिता की सन्तान हैं। एक ही पिता ने उनका भरण पोषण किया, एक ही माता का दूध पीकर वे बड़े हुए हैं। अतः उन्हें परस्पर में प्रेम भाव रखकर एक दूसरे को सुख प्रदान करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। इससे उनके माता पिता को भी आनन्द मिलेगा और घर में सुख

शान्ति की वृद्धि होगी। इसके विपरीत जब माता पिता यह देखते हैं कि उनकी सन्तान आपस में लड़ती झगड़ती है, एक दूसरे को यथाशक्ति सहायता नहीं करती, वरन् आपस में ईर्ष्या द्वेष का भाव रखती है तो उन्हें बड़ा कष्ट होता है। अच्छे लड़के लड़कियां अपने भाई-बहिनों की सेवा और सहायता करने में कोई कसर नहीं उठा रखते।

अन्य सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य—बहुत से परिवारों में, विशेषतया जिन समाजों में हिन्दुओं की भांति संयुक्त परिवार की परिपाटी है, उपर्युक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त और भी कई सम्बन्धी होते हैं। उदाहरणवत् किसी घर में एक व्यक्ति के चाचा चाची या ताऊ ताई अथवा भाई भौजाई या भतीजा भानजा आदि हो सकते हैं। इनमें से प्रत्येक के विषय में अलग-अलग कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। संक्षेप में बड़ों को माता पिता के समान, और छोटों को अपनी सन्तान के समान समझना चाहिये। सब की सुख शान्ति में अपनी उन्नति और विकास मानना चाहिये। दूसरों की जितनी सेवा या सहायता करने का, हम अपने परिवार में अभ्यास करेंगे, उतना ही हम अपने तथा औरों के नागरिक जीवन को उत्तम बनाने में भागीदार होंगे।

विवाह सम्बन्धी विचार—पति का स्त्री के प्रति, स्त्री का पति के प्रति, और, इन दोनों का सन्तान के प्रति पालन किये जाने वाले कर्तव्यों का प्रश्न उसी दशा में उपस्थित होता

है, जब—साधारणतया, सभ्यावस्था में स्त्री पुरुष का विवाह सम्बन्ध हो। अतः विवाह के विषय में कुछ उपयोगी बातों का विचार करना आवश्यक है। विवाह सम्बन्ध एक बड़ा महत्व-पूर्ण सम्बन्ध है। बहुधा पुरुष और स्त्री का भावी जीवन सफल या विफल होना बहुत कुछ इस पर निर्भर होता है। अतः यह सम्बन्ध बहुत विचार पूर्वक किया जाना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी उम्र में, या ऐसी शारीरिक या आर्थिक स्थिति में यह सम्बन्ध न होना चाहिये जब कि वे इस का उत्तरदायित्व न समझते हों, या विवाहित जीवन के कर्तव्यों को पालन करने में असमर्थ हों। इस सम्बन्ध के होने में विशेषतया उन्हीं व्यक्तियों (स्त्री और पुरुष) की सम्मति मुख्य समझी जानी चाहिये, जिनका इससे सम्बन्ध है। हाँ, बहुधा बाल्यावस्था में ही नहीं, युवावस्था में भी, उनमें यथेष्ट अनुभव और गम्भीरता नहीं होती, इसलिये उन्हें अपने माता पिता या अन्य हितैषियों से आवश्यक परामर्श ले लेना चाहिये।

भारतवर्ष में कन्या की सोलह वर्ष की और लड़के की पच्चीस वर्ष की उम्र विवाह के योग्य मानी गयी है; परन्तु अज्ञान के कारण अनेक दशाओं में बाल-विवाह अथवा बेमेल विवाह हो जाते हैं, जिसका अनिष्टकारी परिणाम विवाहित स्त्री पुरुष को ही नहीं, उनके अन्य सम्बन्धियों तथा समाज और देश को भुगतना पड़ता है। पुनः वर-वधु की शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक अवस्था विवाह के अनुकूल होनी चाहिये।

बहुधा माता-पिता इन बातों का विचार न कर अपनी सन्तान का जैसे-तैसे विवाह कर देना अपना अनिवार्य कर्तव्य मान बैठते हैं, यह अनुचित है। प्रायः स्त्रियों पर बहुत दबाव डाला जाता है। उन्हें अपनी इच्छा प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता। और अनेक स्त्रियों का तो उनकी स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध ही विवाह कर दिया जाता है। वे लोगों के स्वार्थ, लोभ, परम्परा या अन्ध विश्वास की शिकार होती हैं। स्त्रियों को (एवं पुरुषों को) ऐसे अनुचित सम्बन्ध से बचना चाहिये।

गृहस्थ आश्रम सम्बन्धी कुछ बातों पर आगे प्रसंगानुसार प्रकाश डाला जायगा, यहां एक विशेष प्रश्न पर कुछ विचार किया जाता है।

गृहस्थ और समाज—गृहस्थ आश्रम से परिवार बनता है और परिवारों के समूह या सम्मेलन से समाज संगठित होता है। परिवार मानों समाज की एक इकाई है। इस प्रकार समाज का आधार गृहस्थ है। अतः हमें यह विचार कर लेना चाहिये कि गृहस्थ से समाज की उन्नति अवनति का कहां तक सम्बन्ध है, और किसी नागरिक का गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना कहां तक आवश्यक और उपयोगी है। विशेषतया इस लिये कि कुछ सज्जनों की यह धारणा होती है कि गृहस्थ आश्रम के झंझटों में न पड़ना चाहिये।

पुरुषों और स्त्रियों को गृहस्थ में प्रवेश करने की स्वाभावतः इच्छा होती है। एक अवस्था आती है, जब पुरुष स्त्री के बिना और स्त्री पुरुष के बिना अपने जीवन में अपूर्णता का अनुभव करती है। इसलिये यद्यपि गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की प्रवृत्ति को नियमित और संयमित करना बहुत जरूरी है, इसका सर्वथा दमन किया जाना अस्वाभाविक और अनिष्टकारी है। कुछ लोगों का विचार होता है कि जिन्हें परोपकार और सेवा कार्य में लगना हो, उन्हें तो कुंवारा या ब्रह्मचारी ही रहना चाहिये। गृहस्थ की चिन्ता और उत्तरदायित्व सेवा भाव में विघ्नकारक है। निस्सन्देह इस कथन में कुछ सच्चाई है, और हम उन सन्यासी महात्माओं को नहीं भूलते जिन्होंने गृहस्थ में न आकर संसार की अपार सेवा की है। परन्तु स्मरण रहे कि वे साधु महात्मा विशाल मानव जनता में अपवाद मात्र हैं। सर्व साधारण के लिये उनका अनुकरण न सम्भव है, और न वांछनीय ही है।

पुरुष को स्त्री के लिये, स्त्री को पति के लिये, और दोनों को सन्तान के लिये प्रायः कुछ त्याग करना पड़ता है, कष्ट सहन करने होते हैं। स्वेच्छाचार और आवारापन छोड़कर संयम का जीवन व्यतीत करना होता है। इस प्रकार, गृहस्थ आश्रम में तरह-तरह के अनुभव और शिक्षायें मिलती हैं, जो व्यक्ति इसमें प्रवेश न करेंगे वह इनके प्राप्त करने के अवसर

से वंचित ही रहेंगे। फिर, सेवा और परोपकार करने की लगन रखने वालों ने इस आश्रम में आकर भी यथासम्भव महान् कार्य किया है। सन्यासियों तथा अन्य सेवा-व्रती महात्माओं का भरण-पोषण इन्हीं पर निर्भर होता है, और इस प्रकार उनकी सेवा का बहुत कुछ यश गृहस्थियों को ही है।

निदान, कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर, सर्व साधारण के लिये गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना और पारिवारिक जीवन व्यतीत करना ही अच्छा है और समाज के हित की दृष्टि से भी उपयोगी है।

अस्तु, परिवार के सब सदस्यों के प्रति नागरिक को अपना यथेष्ट कर्तव्य पालन करना चाहिये। बड़ों का आदर करना, उनकी आज्ञा मानना, (जहां तक वह धर्म के तथा अपनी आत्मा के विरुद्ध न हो), और सेवा-शुश्रुषा करना, अपने से छोटों से प्रेम पूर्वक व्यवहार करना, अपने आश्रितों के भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था करना सब के लिये आवश्यक है।

चौथा परिच्छेद

दूसरों के प्रति कर्तव्य

"दूसरों से ऐसा व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम से करें।"

प्राक्कथन—नागरिकों के अपने प्रति तथा अपने परिवार के प्रति पालन करने योग्य कर्तव्यों का विवेचन कर चुकने पर, अब हम उन कर्तव्यों का विचार करते हैं, जो उन्हें दूसरे व्यक्तियों के प्रति पालन करने चाहियें।

इस बात का उल्लेख पहिले किया जा चुका है; कि कोई व्यक्ति केवल अपने लिये जीवित नहीं रहता, यदि सब अपने-अपने स्वार्थ साधन का विचार रखे तो सामुहिक जीवन अत्यन्त कठिन और कष्टमय हो जाय। हमारा एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध हे। हम बात बात में दूसरों के ऋणी हैं; हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के विविध व्यक्तियों से सहायता लेनी होती है। इसके प्रतिफल स्वरूप हमारा भी उनके प्रति कुछ कर्तव्य अवश्य है। हमें भी उनकी उन्नति तथा सुख-सुविधाओं का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा करने में गौण रूप से हमारा भी हित ही है। जब हम दूसरों की किसी कार्य में सहायता करते हैं, उनके लिये कुछ कष्ट उठाते हैं, सब के प्रति न्याय और उदारता का व्यवहार करते हैं, तो इससे हमारी मानसिक और नैतिक प्रवृत्तियों के विकास में सहायता मिलती है। जो आदमी दूसरों के प्रति अन्याय या अत्याचार करता है, वह अपना बड़ा अनिष्ट करता है। उसकी उन्नति या विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उसका बड़ा अनिष्ट, स्वयं उसके हाथों हो जाता है। इसलिये हमें अपने स्वार्थ—हां, सच्चे स्वार्थ की दृष्टि से दूसरों के प्रति यथेष्ट कर्तव्य का पालन करना चाहिये। आगे उदाहरण स्वरूप कुछ बातों का विचार किया जाता है।

शिक्षकों के प्रति आदर भाव—शिक्षकों से हमारा अभिप्राय यहां केवल अध्यापकों से ही नहीं, वरन् हम इनमें उपदेशक, लेखक और सम्पादक आदि उन सभी व्यक्तियों का समावेश करते हैं, जो हमें किसी भी जगह या किसी भी रूप में शिक्षा देते हैं। विचारशील पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि हम उन महानुभावों के कितने ऋणी हैं—जिन्होंने हमें लिखना-पढ़ना सिखाकर, मौखिक उपदेशों द्वारा, या लेखों और पुस्तकों से विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त कराया है, हमें शारीरिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा जीवन-यात्रा करने के अधिक योग्य बनाया है तथा मनुष्यत्व प्रदान किया है।

आधुनिक परिस्थिति में ये सज्जन प्राय: वेतन भोगी होते हैं, समाज की ओर से ऐसी व्यवस्था बहुत कम होती है कि इनकी आवश्यकतायें पूरी होती रहें और ये निश्चिन्त रहकर अपना महान कर्तव्य पालन करते रहें। इसलिये अपने निर्वाह के लिये इन्हें वेतन लेना होता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो इन्हें अपने श्रम और उपयोगिता का यथेष्ट प्रतिफल कभी नहीं दिया जा सकता, सुयोग्य शिक्षकों को जो कुछ दिया जाय वह प्राय: थोड़ा ही है। अस्तु, वेतन ग्रहण करने के कारण इन महानुभावों के सत्कार्य की अवहेलना नहीं की जानी चाहिये। किसी राज्य की उन्नति के बहुत कुछ आधार ये ही होते हैं। यह समाज का दुर्भाग्य है कि आजकल प्राय: धन को बड़ा महत्व दिया जाने के कारण जनता में इनकी मान-मर्यादा और आदर सम्मान कम होता है। बड़े-बड़े राज-दरबार या सभा सम्मेलनों में अधिकांश अध्यापकों आदि की कुछ पूछ नहीं होती और निरक्षर पूंजी वाले सेठ साहुकार आदि को सम्मान सूचक स्थान दिया जाता है। हम यह स्वीकार करते हैं कि कुछ शिक्षक अपने महान् उत्तर-दायित्व का यथेष्ट महत्व नहीं समझते और उसका उचित रूप से पालन नहीं करते; इन बातों के सुधार होने की आवश्यकता है। अस्तु, शिक्षकों का स्थान, नागरिकों की दृष्टि में बहुत उच्च होना चाहिये। आशा है, हमारे भावी नागरिक इस ओर

समुचित ध्यान देकर उनके साथ न्याय करेंगे और इस प्रकार राज्य के कल्याण-साधन में सहायक होंगे।

पड़ोसियों के प्रति हितैषिता—आरम्भ में मनुष्य का विचार बहुधा अपने परिवार तक ही परिमित रहता है। धीरे-धीरे उसका अपने पास के गली, मोहल्ला वालों से सम्बन्ध बढ़ता जाता है। बहुत से आदमी उनके प्रति यथेष्ट कर्तव्य का पालन नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि यथाशक्ति अपने पड़ोसियों की सुविधाओं और उन्नति की आकांक्षा हर-दम वांछनीय है। उदाहरण के लिये वे समझते हैं कि अपने घर (या पास के स्थान) को शुद्ध रखना काफी है, दूसरों की चिन्ता क्यों की जाय। ये अपने घर का कूड़ा देर में ऐसे समय बाहर फेंकते हैं, जब मेहतर साफ करके चला जाय। इससे कूड़ा दिन भर सड़ा करता है, पर इनकी बला से! यह एक मोटी-सी बात है। विचार करने से ऐसी अन्य अनेक बातें मिल सकती हैं, जिनमें हमें अपनी सुविधा और स्वार्थ को त्यागकर, अपने पड़ोसियों के हितों का समुचित ध्यान रखना चाहिये।

बालकों के प्रति कर्तव्य—बालक-बालिकाओं के सम्बन्ध में भी कुछ बातें विचारणीय हैं। उनमें से जो हमारे निकट सम्बन्धी नहीं हैं, वे भी राज्य के भावी नागरिक हैं; अतः सब को सुयोग्य बनाने के लिए भरसक यत्न किया जाना चाहिये। किसी को उनके साथ ऐसा बर्ताव न करना चाहिये जिससे

उनकी विविध शक्तियों के विकास में बाधा पहुँचे। या उनके आत्म सम्मान की भावना को धक्का लगे। सब को उनके साथ प्रेम, उदारता और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये। स्मरण रहे कि कोई बालक परिभ्रष्ट या वर्णसंकर (Illegitimate) कहा जाकर समाज से परित्यक्त न किया जाना चाहिये; सब समाज के पवित्र अंग हैं। किसी बालक का उसके जन्म या जाति आदि के कारण अनादर या अपमान न होना चाहिये। वर्णसंकर समझे जाने वाले बालकों के सम्बन्ध में कोई दंड दिया जाना अभीष्ट हो तो उन्हें उत्पन्न करने वाले अर्थात् उनके माता-पिता को दिया जाना चाहिये।

बालक-बालिकाओं को शिक्षा देने वाले ऐसे होने चाहिये जो न केवल पाठ्य-विषय के जानकार हों, वरन् बालकों की प्रकृति, रुचि और विकास क्रम को भी समझते हों। उन्हें शिक्षा-पद्धति के उन्नत और विकसित सिद्धान्तों को जानने वाला होना चाहिये। विद्यार्थियों के मस्तिष्क के साथ ही उनकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का समुचित शिक्षण होना आवश्यक है जिससे उनकी उन्नति एकांगी न होकर शारीरिक, मानसिक, नैतिक आदि सभी प्रकार की हो। साथ ही किसी विद्याभिलाषी को उसकी जाति, रंग, धर्म, या निर्धनता आदि के कारण शिक्षा प्राप्ति से वंचित न किया जाना चाहिये।

नौकरों के प्रति कर्तव्य—बहुधा किसी-किसी व्यक्ति या परिवार में एक या अधिक नौकर रहते हैं। निर्धन असहाय आदमी कभी-कभी बहुत मामूली पारिश्रमिक (वेतन) लेकर काम करना स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु मालिक को चाहिये कि वह नौकर को निर्धारित वेतन देकर ही निश्चित् न हो जाय, वरन् उसके शारीरिक भरण-पोषण के अतिरिक्त उसके स्वास्थ्य तथा मानसिक और नैतिक उन्नति का भी ध्यान रखे। उसके साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये जैसा कि अपनी सन्तान के प्रति किया जाता है। वास्तव में किसी नौकर की विविध शक्तियों के विकास का उत्तरदायित्व उसके मालिक पर है। उससे शारीरिक या आर्थिक दंड अर्थात् जुर्माने के भय से काम न लिया जा कर प्रेम पूर्वक काम कराया जाना चाहिये। वास्तव में, जहां तक होसके, उसे यह मालूम न होने देना चाहिये कि वह एक वेतनभोगी नौकर है, वह एक सहायक की भांति रखा जाना चाहिये।

अवश्य ही नौकर को भी चाहिये कि मालिक का काम भरसक चतुराई और ईमानदारी से करे। मालिक देखे या न देखे, उसे अपने कर्तव्य पालन में त्रुटि न करनी चाहिये; उसे सदैव अपने स्वामी के हित का यथेष्ट ध्यान रखना चाहिये।

अन्य नागरिकों के प्रति—ऊपर कुछ प्रकार के नागरिकों के प्रतिपालन किये जाने वाले कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इनमें समस्त नागरिकों का समावेश नहीं हो जाता।

समय-समय पर हमें अन्य नागरिकों के सम्बन्ध में भी विचार करने का अवसर आसकता है। सब के विषय में ब्योरेवार बातें नहीं लिखी जा सकती हैं। परिस्थिति के अनुसार निर्णय करना होगा। हमें मुख्य बात ध्यान में यह रखनी चाहिये कि सब से हमारा व्यवहार प्रेम और सहयोग का हो। यदि हम विद्वान् या गुणवान् हैं और किसी नागरिक को हमारी कुछ सहायता की आवश्यकता है तो हमें यह सोचकर उसकी सहायता करनी चाहिये कि यदि संयोग से हम उस जैसे होते और वह हमारी स्थिति में होता तो हम उससे कैसे व्यवहार की इच्छा करते। विद्या और योग्यता की भांति हमारे धन से भी यथा सम्भव दूसरे नागरिकों का हित साधन होना चाहिये, जिस दीन, अनाथ, बालक, वृद्ध, अपाहज और विधवा या अन्य संकट-ग्रस्त व्यक्ति की हम कुछ सहायता कर सकें, उस की सहायता हमें अपना कर्तव्य समझ कर करनी चाहिये, इस विचार से नहीं कि हम उस पर कुछ अहसान कर रहे हैं।

निस्सन्देह हमें दूसरों की सहायता करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे कृत्य से जहां किसी व्यक्ति विशेष को कुछ सुख या सुविधा मिले वहां उस के साथ समाज पर भी बुरा प्रभाव न पड़े, उस का दुरुपयोग न हो। इस सम्बन्ध में विशेष विचार सामाजिक कर्तव्यों में किया जायगा।

विदेशियों के प्रति कर्तव्य—अभी तक स्वदेशवासियों के सम्बन्ध में विचार हुआ। विदेशियों के प्रति भी हमें

सहानुभूति और उदारता का व्यवहार करना चाहिये। जहाँ तक वे हमारे नागरिक कर्तव्यों और अधिकारों में बाधा उपस्थित न करें, उन्हें हमारे देश में आने, रहने, व्यापार करने, शिक्षा प्राप्त करने सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। हाँ यदि वे हमारी जातीयता या सम्पत्ति को अपहरण करने या संस्कृति को बिगाड़ने का विचार करें, तो उन्हें उपर्युक्त कोई सुविधा न मिलनी चाहिये, यहां तक कि उनके यहां आने और रहने का भी निषेध कर देना चाहिये।

निदान नागरिकों को अपने कर्तव्य सम्बन्धी विचारक्षेत्र क्रमशः विस्तृत करते रहना चाहिये। हमारी उदारता तथा हितैषिता केवल हमारे परिवार, जाति, ग्राम और नगर तक ही परिमित न रहकर उसका उपयोग स्वदेश भरके, नहीं-नहीं संसार भरके—मनुष्यों के लिए होना चाहिये।

पांचवां परिच्छेद

सामाजिक कर्तव्य

प्राक्कथन—पिछले परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि नागरिकों का दूसरों के प्रति पृथक् २ क्या सम्बन्ध है। परन्तु हम लोग समाज में संगठित हैं, और हम समाज रूपी शरीर के एक अंग हैं। यदि शरीर का कोई भाग पीड़ित या गंदा मैला होता है तो उसका फल सारे शरीर को भुगतना होता है। इसी प्रकार यदि समाज में कोई श्रेणी अवनत या दुखी होगी तो उससे तमाम समाज कलंकित होगा और उसकी उन्नति में बाधा होगी। हम प्रति दिन देखते और सुनते हैं कि किसी बड़े यंत्र का छोटा-सा पुर्जा बिगड़जाने से तमाम यंत्र का कार्य रुक जाता है, और एक मछली तमाम तालाब को गंदा कर डालती है। इन बातों से हमें सामाजिक विषयों के सम्बन्ध में शिक्षा लेनी चाहिए। हमें समाज के प्रति अपना यथेष्ट कर्तव्य पालन करना चाहिये।

सामाजिक जीवन के लिये कुछ आवश्यक बातें—समाज में सबका जीवन सुख-शांति से व्यतीत हो, और उसकी

यथेष्ट उन्नति होती रहे। इसके लिए नागरिकों को कुछ बातों का समुचित ध्यान रखने की आवश्यकता है। प्रथम यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख, भोग और स्वार्थ को मर्यादा में रखे। और दूसरों की सेवा और सहायता करने में यथाशक्ति तत्पर रहे। हम न किसी को धोखा दें, और न किसी के साथ विश्वास घात करें। समाज पारस्परिक सहयोग के आधार पर रहता है, इसलिये, जहां तक हम से बन सके हम परोपकार के कार्य करते हुए दूसरों में भी ऐसे भाव की वृद्धि करें। हम सब से न्याय, उदारता, और प्रेम का व्यवहार करें। हम अपनी विविध शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति में न केवल समाज के वर्तमान जीवन से लाभ उठाते हैं, परन्तु बहुधा हम उसके पूर्वकाल में किये हुए अनुभवों और अन्वेषणों का भी उपयोग करते हैं। हमें चाहिये कि अपने बल और बुद्धि से समाज को, जहां वह है, उससे और आगे बढ़ाने में भाग लें।

समाजोन्नति—कोई भी समाज पूर्ण या आदर्श रूप में उन्नत नहीं होता। प्रत्येक राज्य में समाजोन्नति की थोड़ी-बहुत आवश्यकता सदैव बनी रहती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस कार्य में यथाशक्ति उद्योग करना चाहिये। किसी नागरिक को यह न समझना चाहिये कि मैं किस योग्य हूँ, यह काम तो बड़े-बड़ों के करने का है। धनी, निर्धन, युवक या वृद्ध, पुरुष तथा स्त्री, सब को समय समय पर ऐसा अवसर मिलता है कि वे चाहें तो अपने सहयोग से समाज का बड़ा हितसाधन

कर सकते हैं। ऐसे अवसर का सदुपयोग किया जाना चाहिये, और इस विषय में तो हमें सदैव ही सावधान रहने की आवश्यकता है कि हमारे किसी कार्य से समाज को हानि न पहुँचे।

प्रत्येक राज्य में वहां की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार वहां के नागरिकों के सामाजिक कर्तव्यों में कुछ भिन्नता हो सकती है। मुख्य विचारणाय बात यह होती है कि समाज के किसी अंग की उपेक्षा न की जाय, नागरिक प्रत्येक समूह की यथोचित उन्नति में सहायक हों। साधारणतया आजकल स्त्रियों, दलितों और श्रमजीवियों की परिस्थिति अनेक राज्यों में चिन्तनीय है। अतः हम इनके सम्बन्ध में विचार करते हैं। पहले स्त्रियों का विषय लेते हैं।

स्त्रियों के सम्बन्ध में—प्रायः उन्नत देशों में भी कुछ ऐसी असुविधायें हैं जो समस्त स्त्री-समाज को भोगनी पड़ती हैं। अवनत देशों में तो स्त्रियों की दशा और भी सोचनीय है। प्रत्येक देश में उनकी संख्या लगभग आधी है, इसलिये नारी शक्ति को पंगु बना कर कोई राज्य यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक विवेकशील नागरिक को इस कार्य में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करना चाहिये। विशेषतया सुयोग्य महिलाओं को अपनी बहिन माताओं के उद्धार के पुनीत कार्य के लिये कटिबद्ध होकर, आगे बढ़ना तथा स्त्री-समाज में समुचित जाग्रति करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रत्येक देश में इस

सम्बन्ध में होने वाले कार्य का व्यौरेवार विचार वहां की परिस्थिति का अध्ययन करके हो सकता है। ध्यान में रखने की मुख्य बात यह है कि स्त्रियों को अपनी शिक्षा स्वास्थ्योन्नति, और सुख-समृद्धि के लिये पुरुषों की तरह विविध सुविधायें मिलनी चाहिये, और राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से पुरुषों और स्त्रियों में यथासम्भव कोई अंतर न रहना चाहिये।

दलित जातियों से सहानुभूति—समाज सभी व्यक्तियों का मिलकर बना है; सब की परस्पर सहानुभूति और सहयोग रहना चाहिये। कल्पना करो कि जिन्हें समाज में नीचा समझा जाता है, उन का सहयोग हट जाय, तो उच्च जात्याभिमानियों का जीवन कितना कष्टमय हो जाय। उदाहरण के लिए यदि धोबी कपड़े न धोये तो उन्हें उजला कपड़ा पहनने को कहां से मिले? यदि दर्जी सीने का काम बन्द करदें तो भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचि, आवश्यकता अथवा फैशन के अनुसार वस्त्र कैसे तैयार हों! यदि मेहतर टट्टी साफ न करे तो सभी को जंगल की हवा खानी पड़े। इस प्रकार यदि शान्त चित्त से विचार किया जाय तो हम विविध कार्य करने वालों के श्रम की उपयोगिता भलीभांति समझ सकते हैं।

परन्तु खेद का विषय है कि प्रायः प्रत्येक देश में थोड़े बहुत आदमी दलित पाये जाते हैं, कहीं रंग भेद के कारण,

कहीं जाति भेद के कारण, और कहीं धर्म, पेशे या किसी और कारण। पिछले दिनों में सुधार हुआ है, परन्तु अभी बहुत कार्य होना बाकी है। सिद्धान्त रूपसे समानता और परस्पर सहयोगी की बातें मानते हुए भी व्यवहार में बहुधा इन्हें भुला दिया जाता है। अनेक बन्धु नीच या अछूत समझे जाते हैं। इनसे समुचित सहानुभूति नहीं की जाती। इस प्रकार के विचारों में आमूल परिवर्तन होने की आवश्यकता है। इस कार्य में सब नागरिकों को सहायता करनी चाहिए। साथ ही दलित जातियों के आदमियों को समाज में अपना समुचित स्थान प्राप्त करने का शान्ति और धैर्य से निरंतर उद्योग करना चाहिये। और समय-समय पर मिलने वाली बाधाओं या विफलताओं से निराश न होना चाहिये।

प्रत्येक देश की, दलित जातियों की समस्या कुछ-कुछ निराली होते हुए भी, यह बात सब के ध्यान में रखने की है कि कोई मनुष्य अपने जन्म (वंश) के कारण नीच या घृणास्पद नहीं समझा जाना चाहिये। प्रत्येक आदमी किसी खास दशा में, और कुछ विशेष समय के लिए अपवित्र हो सकता है, परन्तु कोई जन्म भर के लिए और पीढ़ी दर पीढ़ी के लिए अछूत या दलित नहीं रहना चाहिये।

श्रमजीवियों की प्रतिष्ठा—सामाजिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है, कि समाज का प्रत्येक अंग, प्रत्येक सदस्य उन्नतशील हो वह यथेष्ट परिश्रम और प्रयत्न करने वाला हो।

कोई आदमी यथासम्भव बेकार, आराम तलब या परावलम्बी न हो। समाज में श्रम और स्वावलम्बन का यथेष्ट मान होना चाहिये। जिस समाज में श्रमजीवियों की प्रतिष्ठा नहीं होती, वहां लोगों को श्रम से स्वाभावतः घृणा होने लगती है। बहुधा कहीं-कहीं कुछ लोगों की यह धारणा हो जाती है कि कुछ भी उत्पादक कार्य न करने वाले आदमियों का दर्जा ऊँचा है, उन्हें साधु महात्मा कहा जाने लगता है। इसके विपरीत दिन भर मेहनत मजदूरी करने वालों को छोटे दर्जे का माना जाता है। 'मजदूर' शब्द अपमान सूचक समझा जाता है। जिस समाज में ऐसी स्थिति हो उसकी उन्नति का मार्ग बन्द हुआ समझना चाहिये।

पुनः अनेक स्थानों में आदमी यह सोचते हैं कि कुछ खास-खास कार्य करने वाले, विशेषतया कुर्सी या गद्दी पर बैठे बैठे कुछ लिखने-पढ़ने या नकल करने आदि का, मोहर्रिरी या मुन्शीगिरी का काम करने वाले समाज में अधिक प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं, और, शारीरिक परिश्रम करने अन्न आदि खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाले, कपड़ा बुनने वाले या लकड़ी, लोहे आदि का कार्य करने वाले और सड़कें और नालियां साफ करने वाले आदर सम्मान के पात्र नहीं हैं। यह धारणा भी बड़ी भ्रम-पूर्ण एवं अनिष्टकारी है। सामाजिक उन्नति के लिये इस प्रकार के विचारों को सर्व साधारण के मन से दूर कर देने की अत्यन्त आवश्यकता है। नागरिकों को स्मरण रखना

चाहिये कि प्रत्येक प्रकार का उत्पादक और उपयोगी श्रम आदरणीय है। जिस कार्य की समाज को आवश्यकता है, जिससे समाज की उन्नति या विकास में सहायता मिलती है उसको उसकी उपयोगिता के विचार से यथेष्ट महत्व है, चाहे वह कुर्सी या गद्दी पर बैठकर किया जाय, या कुदाली अथवा झाड़ू हाथ में लेकर करना पड़े। काम करने की शक्ति होते हुए, किसी नागरिक का श्रम न करना एक अक्षम्य अपराध है, नागरिकों का कर्तव्य है कि सामाजिक उन्नति के लिए इन बातों का यथेष्ट मर्म समझें और औरों को समझावें।

भारतीय पाठक विचार करें कि उनके समाज में इस ओर कैसी उदासीनता छा रही है। खेद का विषय है कि समाज कुछ भी उपयोगी कार्य न करने वाले भिक्षुकों और परावलम्बियों को श्रमजीवियों से कहीं अधिक मान और आदर प्रदान कर रहा है; इस प्रकार वह स्वयम् अपने व्यक्तियों को मुफ्तखोरी और आरामतलबी की प्रेरणा करता है, और इसका कुफल भी प्रत्यक्ष भोग रहा है। हमारा सामाजिक कर्तव्य चाहता है कि इस विषय के विचारों में आमूल परिवर्तन या क्रान्ति की जाय, और सर्व साधारण में स्वावलम्ब की महिमा के ज्ञान का प्रचार हो।

स्त्रियों, दलितों और श्रमजीवियों के प्रति पालन किये जाने वाले कर्तव्यों के विषय में विचार कर चुकने पर अब हम नागरिकों के एक अन्य सामाजिक कर्तव्य का विचार करते हैं।

दान-धर्म; विवेक की आवश्यकता—कभी-कभी ऐसा होता है कि हम जिस कार्य को अच्छा समझकर करते हैं, उससे जितना लाभ नहीं होता, उससे कहीं अधिक हानि हो जाती है। पिछले परिच्छेद में हमने बतलाया है कि दीन, अनाथ आदि की यथाशक्ति सहायता करना नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु सम्यग् विचार और यथेष्ट आयोजन किये बिना जो दान-धर्म किया जाता है, उससे व्यक्ति विशेष को क्षणिक या अस्थायी सुख सुविधा भले ही मिल जाय, उसका प्रायः दुरुपयोग होने की सम्भावना रहती है। उसका व्यापक-रूप में अनुकरण होने से समाज की बड़ी क्षति होती है। उदाहरण स्वरूप भारतवर्ष में लाखों ऐसे आदमी साधु सन्यासी के रूप में मुफ्त की रोटी खाते हैं, और भी बहुत से आदमी अपने हाथ पांव न हिलाते हुए समाज पर भार बने हुए हैं, जो इसके बिल्कुल अधिकारी नहीं।

निस्सन्देह जो आदमी वास्तव में साधु है जो अपने सदुपदेशों या सेवा कार्यों से समाज का कल्याण करते हैं, उनकी भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकताओं की पूर्ति करना समाज का कर्तव्य है। परन्तु आलसी ही नहीं, भोग और विलासिता का जीवन व्यतीत करने वालों को गृहस्थों की मेहनत की कमाई उड़ाते रहना कदापि उचित नहीं। इससे औरों को भी निकम्मा या ढोंगी बनने का प्रोत्साहन मिलता है।

अस्तु प्रत्येक देश के नागरिकों में दानशीलता का होना अच्छी बात है। परन्तु दान प्रणाली के विषय में सम्यग् विचार रखे जाने की आवश्यकता है। ऐसी संगठित व्यवस्था होनी चाहिये कि समस्त सहायता के अधिकारियों को उचित सहायता अवश्य मिल जावे। और किसी कुपात्र को कुछ मदद न मिले। लंगड़े लूले, अंधे, बहरे आदि अपाहज भी जो कुछ और जितना कार्य सुगमता से कर सकें,× उतना अवश्य करें। भरसक उद्योग करने पर जिनका निर्वाह न हो सके, उन्हें ही सहायता दी जाय। हां, बालकों की या अ-कुशल श्रमजीवियों की इस विचार से भी सहायता की जानी चाहिये कि वे योग्यता प्राप्त करें और भविष्य के लिए अपने श्रम को समाज के लिए अधिक उपयोगी बना सकें। अस्तु दानशीलता का दुरुपयोग न होना चाहिये। उससे देश में बेकारों और मुफ्तखोरों की संख्या न बढ़नी चाहिये। उससे समाज का हित ही होना चाहिये।

इसी प्रकार नागरिकों को अपने अन्य कार्यों का लक्ष्य भी समाजोन्नति रखना चाहिये। अब हम समाज-सुधार के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं

समाज-सुधार का कार्य—समाज-सुधार के लिये लेख लिखने, व्याख्यान और उपदेश देने, तथा तरह-तरह से जन-

---

× इन्हें काम करना सिखाने के लिये यथेष्ट संस्थायें होनी चाहिये।

साधारण को शिक्षित करके उन्हें सुधार कार्य के लिये तैयार करने की बड़ी आवश्यकता बतायी जाती है। परन्तु हम इन विविध कार्यों का महत्व जानते हुए भी इनसे कहीं अधिक आवश्यकता इस बात की समझते हैं कि सुधारक अपने अपने जीवन को आदर्श बनावें। जिस काम को, वे चाहते हैं कि समाज करने लग जाय, उसे सब से पहिले वे स्वयं करके दिखावें जिन कुरीतियों का उन्हें मूलोच्छेद करना अभीष्ट है, उन्हें वे अपने जीवन के पास फटकने न दें, चाहे ऐसा करने से उन पर समाज की ओर से कितने ही निन्दात्मक वाक्यों या कार्यों का प्रहार ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ यदि एक नागरिक यह समझने लग गया है कि विवाह-शादी या मृतक-कर्म आदि में फ़जूलखर्ची न होनी चाहिये, तो वह अपने किसी भी ऐसे काम में व्यर्थ धन बर्बाद न करे। जब वह जानता है कि बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह या बेमेलविवाह समाज का महान् अनिष्ट कर रह हैं तो यही काफी नहीं है कि वह इन कामों को न करे (सम्भव है उसके लिये ऐसा करने का अवसर ही उपस्थित न हो), वरन् उसे चाहिये कि औरों के यहां होने वाले भी ऐसे कार्यों में कभी सम्मिलित न हो।

लेखन और भाषण से यह काम अवश्य ही कठिन है, पर इसका समाज पर प्रभाव भी अधिक पड़ता है। इसलिए समाज-सुधार प्रेमी नागरिकों को चाहिये कि अपने अनुकरणीय व्यवहार से दूसरों के लिए भी अच्छा आदर्श उपस्थित करें।

वे मर्यादा या लोकाचार आदि के नाम पर समाज के किसी ऐसे सिद्धान्त को मान्य न करें जो निस्सार या हानिकर हो। प्रचलित रीति रस्मों के सम्बन्ध में, उन्हें चाहिये कि वे उनको विवेक और बुद्धि की कसौटी पर कस कर अपना कर्तव्य निश्चित करें, और व्यर्थ दूसरों की हां में हां मिलाकर समाज के अनिष्ट में सहायक न हों।

जिस प्रकार सुधारकों को अनिष्टकारी कार्यों के प्रति मानों असहयोग का भान रखने की आवश्यकता है, वैसे ही उन्हें अच्छे कार्यों को प्रोत्साहन देने की भी आवश्यकता है। समय-समय पर जो आदमी बहुमत का विरोध सहते हुए भी सत्कार्य करने का साहस करें, उसका साथ देना प्रत्येक सुधाराभिलाषी का कर्तव्य है। साथ ही सार्वजनिक उत्सवों में ऐसे कार्यों का उल्लेख करके सर्व साधारण की उनके प्रति सहानुभूति बढ़ानी चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से अच्छे व्यवहार और रीति रस्मों के पक्ष में क्रमशः लोकमत (Public opinion) जागृत करना चाहिये। सामाजिक कर्तव्य पालन न करने वालों की स्पष्ट, —पर असभ्य नहीं, निन्दा होनी चाहिये। फिर उन्हें अपने कर्तव्यों की अवहेलना करने का साहस न होगा। जब लोक-मत संगठित नहीं होता, दस आदमी निन्दा करते हैं तो पांच-सात हां में हां मिलाने को भी तैयार हैं, तब कोई सुधार होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। सामाजिक कुरीतियों का अवलम्बन करने वाले, (एवं धार्मिक दृष्टि से निन्द्य कार्य करने वाले,

और राजनैतिक अत्याचार करने वाले) निस्संदेह दोषी हैं, पर इन बातों को चुपचाप सहते रहना, इनका असंदिग्ध विरोध न करना भी तो बड़ा पाप है। इस तत्व को समझ लेना, और इसे निरन्तर स्मरण रखना बहुत आवश्यक है।

अब तक हम ने नागरिकों के उन कर्तव्यों का विचार किया जो उन्हें अपने समकालीन व्यक्तियों तथा समाज के प्रति पालन करने चाहियें। क्या उनका अपने पूर्वजों के प्रति भी कुछ कर्तव्य है?

पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता—किसी भी देश के निवासी एक समय में किस सीमा तक उन्नत हैं, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उनके पूर्वजों ने अपने समय में कितना कार्य किया, और वर्तमान निवासियों ने उससे कहां तक लाभ उठाया। जिन देशों के आदमी अब अपने कारनामों से संसार को चकित कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश डेढ़ दो हजार वर्ष पहिले नितान्त असभ्य थे। उनके निवासियों ने क्रमशः परिश्रम करके स्वयं लाभ उठाया और अपने अनुभव के फल से अपने उत्तराधिकारियों को कृतार्थ किया। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी प्रयत्न होते रहने से ही भौतिक या वैज्ञानिक उन्नति होती है। यही बात मानसिक जगत में चरितार्थ होती है। एक पीढ़ी अपने विचार साहित्य के रूप में छोड़ देती है; आने वाली पीढ़ियां उन्हें मनन करती हैं और विकास की आगे की मंजिल तय करने के लिए तैयार होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश के

नागरिक साधारणतः सभी पूर्वकालीन पुरुषों के और विशेषतया अपने पूर्वजों के बहुत ऋणी होते हैं। उन्हें उनके प्रति भक्ति तथा कृतज्ञता का भाव बनाये रखना चाहिये।*

जगद्गुरु भारत को श्रद्धाञ्जलि—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी देश की सभ्यता और संस्कृति जितनी अधिक दीर्घकालीन होगी, उतना ही वह अधिक श्रद्धा और भक्ति का अधिकारी है। योरप, अमरीका के आधुनिक उन्नत राज्य प्रायः रोम और यूनान के प्रति कृतज्ञता सूचित किया करते हैं। वे भूल जाते हैं कि अरब, मिश्र, बेबिलेनिया, फारिस, चीन और भारत इनसे कहीं अधिक वयोवृद्ध हैं, और इनमें भी भारतवर्ष सब से प्राचीन है। काल की निर्दयी लहरों ने इस भूमि की बहुत सी सम्पत्ति बहा डाली है, तथापि यह गम्भीरता पूर्वक विचारने का विषय है कि संसार के भिन्न-भिन्न देश इस बूढ़े भारत के कितने ऋणी हैं; हां, स्वयं रोम और यूनान ने यहां के साहित्य, कला-कौशल आदि से कितना लाभ उठाया है। इस समय सभ्य संसार की दृष्टि दूर तक नहीं जाती, इतिहास पक्षपात और दुर्भावों से भरा पड़ा है। परन्तु पुरातत्व-वेत्ताओं के अन्वेषण और आविष्कार से एक दिन सत्य की जीत होगी। तब निस्संदेह सब देशों के निवासी पितामह भारत को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना अपना कर्तव्य समझेंगे।

---

*विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने वाले इतिहास ऐसे होने चाहियें कि उन से इस विषय में समुचित शिक्षा मिले; और भावी नागरिक अपने पूर्वजों का यथेष्ट अभिमान करने लगें।

छठा परिच्छेद

धार्मिक कर्तव्य

"धर्म शास्त्र कानून है, जिसे जाति के धर्माध्यक्ष बनाते और समय अथवा आवश्यकता के अनुसार जिसमें परिवर्तन करते रहते हैं।...... हमारा लक्ष्य जाति की रक्षा और उन्नति होना चाहिये, और जो नियम हमारे इस काम आयेगा, वही हमारे लिए धर्म कहलायेगा।"

—**भाई परमानन्द**

विविध धर्म—आजकल प्रायः धर्म का अर्थ मत या मजहब लिया जाता है, इसके अन्तर्गत् वे बातें मानी जाती हैं, जो मनुष्य को परमात्मा के साथ सम्बन्धित करती हैं और विशेषतया उसके मरने के पश्चात् परलोक में हितकर होती हैं। इस विचार को लेकर संसार में नाना प्रकार के मत मतांतर प्रचलित हैं।

भिन्न-भिन्न देशों में तरह-तरह के धर्म हैं, यही नहीं, एक-एक राज्य में कई-कई धर्मों के अनुयायी एकत्र रहते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म अपने-अपने ढंग से मोक्ष और अनन्त सुख

शान्ति की प्राप्ति का मार्ग बताता है। ईसाई धर्म का आदेश है कि ईसा मसीह परमात्मा का प्यारा पुत्र है, उस पर ईमान (अर्थात् विश्वास) लाना चाहिये। इस्लाम धर्म का कथन है कि मोहम्मद साहब आखिरी पैगम्बर (अवतार) हुए हैं, उनकी मार्फत बहिश्त (स्वर्ग) के सुख भोग मिल सकते हैं। बौद्ध धर्मानुयायी बतलाते हैं कि जीवों पर दया करते हुए 'बुद्धो मे शरणम्' का जाप करो। अनेक हिन्दू शिव, कृष्ण, राम या शक्ति आदि को अपना-अपना इष्ट मानते हैं।

विवाद-ग्रस्त विषय—इन विविध धर्मों में पारस्परिक मत भेद के अनेक प्रश्न हैं, जीव कहां से आया, मरने के बाद कहां जायगा, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह कब तक रहेगी, स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है, स्वर्ग और नरक कहां और कैसे हैं, ईश्वर साकार है या निराकार, उसकी पूजा किस तरह करनी चाहिये, उसके दर्शन किस तरह हो सकते हैं, इत्यादि। इन प्रश्नों पर प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपना-अपना पृथक् पृथक्-मत रखें तो कोई हर्ज नहीं है। परन्तु दिक्कत तो यह है कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने आपको सच्चा और ज्ञानी, एवं दूसरों को झूठा और मूर्ख समझते हैं, अपने धर्म के कर्म-कांड को धार्मिक कृत्य, और दूसरों के धार्मिक कृत्यों को पाखंड मानते हैं। यही नहीं, बहुधा एक धर्म के अनुयायी तर्क से, शारीरिक बल के प्रयोग से, अथवा आर्थिक प्रलोभन आदि द्वारा दूसरे धर्म वालों को अपने धर्म में

लाने की बेढब कोशिश करते हैं। अनेक आदमियों ने अपने स्वार्थ, अहंकार, ऐश्वर्य और उन्माद आदि को धर्म का रूप दे रखा है। ये समाज में विविध अनर्थ करते हैं और भोले-भाले आदमियों को अपने चंगुल में फँसाये रहते हैं। इस प्रकार बहुधा अवनत राज्यों में एक-एक धर्म वालों का समूह दूसरे धर्म वालों के समूह का विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी होता है, और सर्व साधारण की बहुत-सी शक्ति और समय व्यर्थ के वाद-विवाद और कलह आदि में नष्ट होता है। इस प्रकार, दुःख का विषय है कि जो धर्म देश और समाज के व्यक्तियों में एकता और प्रेम को बढ़ाने वाला होना चाहिये, वह एक विध्वंसक शक्ति के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

सहनशीलता की आवश्यकता—हमें सोचना चाहिये कि धर्म-विभिन्नता स्वाभाविक है। यह थोड़ी बहुत प्रत्येक देश में रही है, इस समय विद्यमान है, और इसके भविष्य में बने रहने का अनुमान है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की प्रकृति, विचार, भाव, बुद्धि आदि पृथक् पृथक् होती है, तो यह कैसे सम्भव है कि सबके धर्म सम्बन्धी विचार ही पूर्णतया समान हों। फिर धर्म विभिन्नता स्वयम् कोई अनिष्टकारी बात नहीं, इससे विचार वैचित्र्य का अनुभव होता है। हां धर्म-विभिन्नता की दशा में, नागरिकों में सहन-शीलता की अत्यन्त आवश्यकता है। जब कोई धार्मिक कार्य हमारी इच्छा के विरुद्ध होते दिखाई पड़ें तो हमें अपने आपे से बाहर होकर अनेक भले-बुरे कार्य करने पर उतारू न हो

जाना चाहिये। हमारी असहिष्णुता, अनुदारता, मजहबी दिवानापन और अनुचित व्यवहार, दूसरों की दृष्टि में हमारे धर्म की महत्ता कभी न बढ़ावेंगे। शारीरिक (पाशविक) बल से प्राप्त विजय, विजय नहीं होती, वह पराजय है। दया, परोपकार, दूसरों की मां बहिनों की इज्जत तथा संकट-ग्रस्तों की सहायता करके ही हम दूसरों को यह बता सकते हैं कि हमारा धार्मिक आदर्श कितना महान् है, इसी से हम उनके हृदयों पर विजय पा सकते हैं। धार्मिक असहिष्णुता से कदापि नहीं।×

सम्प्रदाय और राष्ट्र-धर्म—नागरिकता और राष्ट्रीयता में साम्प्रदायिकता का अड़ंगा लग जाने से देश की विविध प्रकार की उन्नति के द्वार बन्द हो जाते हैं और बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय वालों को निष्पक्ष और शान्ति से यह विचार करना चाहिये कि वह इस विषय में कहां तक दोषी है तथा इसमें किस प्रकार यथेष्ट सुधार किया जा सकता है। प्रत्येक सम्प्रदाय वालों की विविध संस्थाओं को चाहिये कि अपने-अपने क्षेत्र में न्यायोचित उपायों से शिक्षा, स्वास्थ्य, कला-कौशल आदि की वृद्धि करें और नागरिकों को सुयोग्य बनाने में दत्त चित्त हों। हम स्मरण रखें कि राष्ट्र-धर्म (देश हित) सब साम्प्रदायिक धर्मों से ऊंचा है।

× भारतवर्ष तो अनेक धर्मों का स्रोत तथा संगम-स्थल ही है। अतः यहां धार्मिक सहिष्णुता की विशेष आवश्यकता है।

यद्यपि हमें अपने राष्ट्र के उचित स्वार्थों की सदैव रक्षा करनी चाहिये अन्य देशों के मनुष्यों से भी हमें प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करते रहना चाहिये। धर्म हमें सिखाता है कि सब मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी आदि जीव मात्र एक परब्रह्म परमात्मा की सृष्टि हैं, इस प्रकार हमारी दया और प्रेम का क्षेत्र और भी विस्तृत होना चाहिये। इसका विशेष विचार अन्यत्र 'विश्व बंधुत्व' शीर्षक परिच्छेद में किया जायगा।

धार्मिक सुधार—नागरिकों के धार्मिक कर्तव्यों का विषय समाप्त करने से पूर्व एक बात का यहां उल्लेख कर देना आवश्यक है। यद्यपि हमें दूसरों के द्वारा अपने धर्म की आलोचना या टीका टिप्पणी सुनना अप्रिय प्रतीत होता हो, परन्तु यदि हम गम्भीरता से सोचें तो हमें अपने-अपने धर्म में कुछ बातें ऐसी अवश्य मिल सकती हैं, जो बुद्धि संगत नहीं, केवल अन्ध विश्वास या झूठी श्रद्धा पर अवलम्बित हैं। यही नहीं, कुछ बातें प्रत्यक्ष हानिकर है, जनता के विचार स्वातन्त्र्य और मानसिक विकास या सामाजिक व्यवहार में बाधक हैं। ऐसी बातों की समय-समय पर खोज और जांच की जानी चाहिये। अवश्य ही यह कार्य हर किसी के करने का नहीं, सुयोग्य, बुद्धिमान, विचारवान और निस्वार्थी एवं गम्भीर सज्जनों की सुसंगठित समितियों द्वारा किये जाने का है। प्रत्येक राज्य में प्रत्येक धर्म के सम्बन्ध में ऐसी समितियों

की योजना हो तो भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों द्वारा होने वाला बहुत कुछ 'अधर्म' सहज ही रोका जा सकता है, और प्रत्येक धर्म अधिक उपयोगी और महत्व-पूर्ण बनाया जा सकता है। यदि हम अपने धर्म में कुछ सुधार की बातों का प्रस्ताव करें, तो इसमें किसी को इस धर्म की अपमान होने की बात नहीं सोचनी चाहिये। अच्छी से अच्छी वस्तु भी, कालान्तर में, संस्कार के अभाव में कुरूप या हानिकर हो जाती है। आशा है, नागरिक अपने धार्मिक कृत्यों में इस बात का यथेष्ट विचार रखेंगे।

सातवां परिच्छेद

ग्राम और नगर के प्रति कर्त्तव्य

"रोशनी करना, गरीबों के लिये मकानों की व्यवस्था करना, स्वास्थ्य, नगरों को सुन्दर बनाना, सार्वजनिक उद्यान, अजायबघर, थियेटर पुस्तकालय, बच्चों के दिल बहलाव की जगह जहां वे स्वतन्त्रता-पूर्वक दौड़ सकें और हंस सकें, ये तथा अन्य इस प्रकार के विषय ऐसे हैं जो हम में से अधिक अधिक बुद्धिमानों के विचारार्थ काफी हैं"

—**वी० एस० शास्त्री**

प्राक्कथन—तनिक विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारा सांसारिक जीवन इस प्रकार सम्बद्ध है कि यदि कोई चाहे कि केवल अपना ही कल्याण करले तो उसे बड़ी सीमा तक सफलता नहीं मिल सकती। उदाहरणार्थ जब हमारे निकटवर्ती स्थान में प्लेग आदि कोई बीमारी फैले तो उसका हमारे यहां आना सहज है। इसलिये यदि हम चाहते हैं कि स्वस्थ रहें तो यह भी आवश्यक है कि अपने नगर और

ग्राम-निवासियों में स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें और उनमें स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का प्रचार करें।

इसी प्रकार यदि हमारे चारों ओर अशिक्षित मूर्ख या दुराचारी अथवा नशेबाज लोगों का निवास है तो उसका हमारे मन पर भी बुरा प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इसलिये हमें सदैव उनको भी उन्नत करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। उनके उत्थान में हमारी भी बेहतरी है। उनके नरककुण्ड या अज्ञान-सागर में पड़े रहने की दशा में हम स्वर्गीय-सुख का उपभोग कदापि नहीं कर सकते। बस, अपने ग्राम या नगर की उन्नति और सुधार में हाथ बटाना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

ग्राम-सुधार—सभी राज्यों में थोड़ी-बहुत संख्या ग्रामों की होती है, और कुछ राज्य तो भारतवर्ष की तरह देहातों के ही देश कहे जा सकते हैं। इससे ग्राम-सुधार का प्रश्न का महत्व स्पष्ट है। आधुनिक सभ्यता में ग्रामों की बुरी दशा है। प्रायः देखने में आरहा है कि ग्रामों में जो आदमी कुछ शिक्षित या पैसे वाले हुए, उनका वहां मन ही नहीं लगता। वे शहरों में आकर रहते और अपनी रुचि और शौक के साधनों का उपभोग करते हैं। इससे ग्रामों में धन और मस्तिष्क दोनों का दिवाला निकला रहता है। सुधारकों को चाहिये कि दूर बैठे उपदेश देकर संतुष्ट न होजायँ, वरन् कुछ कष्ट उठाकर गांवों में जाकर रहें और उन्हें ऊपर उठाने का प्रयत्न करें।

ग्राम-सुधार के विविध विषयों में, स्थानीय परिस्थिति के अनुसार कुछ भिन्नता हो सकती है और प्रायः होती है। तथापि निर्धनता, अविद्या, अस्वच्छता, मुकद्दमेबाजी और बीमारियों की समस्या किसी न किसी रूप में सर्वत्र पायी जाती है। इन्हें हल करने के लिए सामुहिक रूप से प्रयत्न किये जाने चाहिये, सेवा समितियों, सहकारी समितियों, पंचायतों, कृषि-सुधार और शिक्षा प्रचार समितियों आदि की स्थापना की बड़ी आवश्यकता है।

नगर-सुधार—आजकल नगरों की संख्या और सीमा बढ़ती जा रही है। पर इसके साथ ही नगर-सुधार की समस्या भी बड़ा जटिल रूप धारण कर रही है। नगरों का बाहरी स्वरूप मन मोहक प्रतीत होने पर भी उसके अन्दर बड़ा घुन-सा लगा मालूम होता है। प्रायः नगर निवासियों में संयमी और सात्विक जीवन तथा उदारता के भावों की भयंकर कमी होती जा रही है, शौकीनी और आडम्बर का रोग बहुत बढ़ गया और बढ़ता जा रहा है। जिन लोगों की साधारण आय है, उन्हें मान पूर्वक रहना कठिन हो जाता है। जिन नवयुवकों में यथेष्ट आत्मबल न हो, उन्हें नगरों का वातावरण सहज ही पथ भ्रष्ट कर देता है। अतः यहां ऐसी संस्थाओं की बड़ी आवश्यकता है, जो अन्यान्य बातों में लोगों को सादगी के जीवन की ओर झुकावे;—बेकारी, मनोरंजन, औद्योगिक शिक्षा, मादक पदार्थों का सेवन के प्रश्नों को हल करें।

आदर्श ग्राम और नगर—कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिये नहीं है; वह कुछ अंश में, दूसरों के लिये भी अवश्य है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संगठित शक्ति से ग्रामों और नगरों के सुधार में प्रयत्नशील होना चाहिये।

जिस ग्राम या नगर से जिस व्यक्ति का विशेष सम्बन्ध है, उसको उसे तो अपने ढंग का आदर्श ग्राम या नगर बनाने में सहायक होना ही चाहिये। प्रत्येक ग्राम या नगर में एक-एक ग्राम सभा, नगर सभा या सेवा समिति आदि का संगठन होना चाहिये जो अपने समान उद्देश्य रखने वाली अन्य संस्थाओं—पंचायतों, जिला-बोर्डों, तथा म्युनिसिपैलटियों से व्यवहारिक सहानुभूति रखें। + जो काम उनके द्वारा करा सकें, उन्हें उनसे कराते हुए शेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे स्वयं उद्योग करना चाहिये। इस प्रकार के निरन्तर प्रयत्न से ही हमारे ग्राम और नगर क्रमशः उन्नत होंगे; और अधिक उन्नत ग्राम या नगर दूसरों के लिये आदर्श का काम देंगे।

अपने नगर का अभिमान; यूनानियों की प्रतिज्ञा—हमें अपने ग्राम और नगर का अभिमान होना चाहिये, अपने कार्य और व्यवहार से दूसरों के लिये आदर्श उपस्थित करना

+ इन संस्थाओं के कर्तव्य तथा संगठन आदि के विषय का विवेचन हमारी 'भारतीय शासन' में किया गया है।

और नागरिक जीवन की उन्नति करना चाहिये। यूनानियों की निम्न लिखित नागरिक प्रतिज्ञा प्रत्येक पाठक के लिए विचारणीय है।

"यह हमारा नगर है, हम अपने कायरता या बेईमानी के किसी काम से इसका अपमान न करेंगे, न हम अपने दुखी साथियों का कार्य क्षेत्र में साथ छोड़ेंगे। हम इस नगर की पवित्र वस्तुओं तथा आदर्शों की रक्षा के लिये लड़ेंगे चाहे हम अकेले हों, या बहुतों के साथ हों। हम नगर के नियमों का आदर तथा पालन करेंगे, और उनकी अवहेलना करनेवाले बन्धुओं से भी ऐसा ही भाव भरने का यथाशक्ति यत्न करेंगे, हम नागरिक कर्तव्यों की सार्वजनिक भावना को उत्तेजित करेंगे, इस प्रकार इन सब उपायों से हम इस नगर को, जैसा यह हमें सौंपा गया है, उसकी अपेक्षा आने वाली पीढ़ी के लिये कम नहीं, अधिक महान, उन्नत और सुन्दर बनायेंगे।"

आठवां परिच्छेद

राज्य के प्रति कर्तव्य

"परिवार अच्छा है, और मनुष्य को अपनी स्त्री और पुत्र में जो आनन्द मिलता है, वह भी अच्छा है, परन्तु राज्य इनसे महान् है, कारण कि वह इनका रक्षक है, उसके बिना घर नष्ट हो जायगा। सज्जन पुरुष को उस महिला का सम्मान प्रिय है जिसने उसको जन्म दिया, तथा उस स्त्री का सम्मान, जिसके बच्चे उसके घुटनों में लिपटते हैं। परन्तु इसलिये राज्य का सम्मान इससे अधिक प्रिय होना चाहिये, क्योंकि वह बच्चों और स्त्री को सुरक्षित रखता है। राज्य ही से वह सब बातें प्राप्त होती हैं जिनसे तुम्हारा जीवन समृद्धिशाली बनता है, और जो तुम्हें सौन्दर्य और सुरक्षा प्रदान करती हैं।"

—दि यंग सिटीजन

पिछले परिच्छेद में यह बताया गया कि नागरिकों का अपने ग्राम या नगर के प्रति क्या कर्तव्य है। अब राज्य के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

राज्य और नागरिकों का सहयोग—नागरिकों का कर्तव्य है कि अपने राज्य के प्रति प्रगाढ़ भक्ति और आदर-भाव रखें, और उसके सम्मान की रक्षा के लिये कटिबद्ध रहें। स्वदेश के या विदेश के किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने राज्य को अपमानित नहीं होने देना चाहिये। वास्तव में राज्य और नागरिकों का एक ही लक्ष्य और एक ही स्वार्थ है, × दोनों को मिलकर राष्ट्र-हित-साधन में लगना चाहिये। दोनों का सहयोग दोनों के लिए ही कल्याणकारी होगा; नागरिक राज्य के वैभव को बढ़ायेंगे और राज्य नागरिकों की विविध शक्तियों के विकास में सहायक होगा।

स्वदेश-रक्षा—अन्यान्य बातों में मातृभूमि की रक्षा का उत्तरदायित्व कुछ वेतनभोगी सैनिकों पर नहीं समझा जाना चाहिये। आवश्यकता होने पर, प्रत्येक नागरिक को उस पवित्र कार्य में भाग लेने के लिये तत्पर रहना चाहिये। जिस देश के निवासी अपने यहां की अशांति दमन करने के लिये भी दूसरों के मोहताज हों, जिस राज्य के नागरिक शत्रुओं से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, उसकी दशा चिन्तनीय है। उसका भविष्य अन्धकारमय है।

× निस्संदेह यह बात स्वाधीन राज्यों के सम्बन्ध में ही ठीक चरितार्थ होती है। पराधीन देशों में ऐसा नहीं होता. वहां प्रायः शासकों और शासितों का स्वार्थ पृथक् पृथक् होता है, राजभक्ति और देशभक्ति परस्पर विरोधी बातें होती हैं। उस दशा में राज्य और नागरिकों में सहयोग होना अस्वाभाविक है।

परन्तु नागरिक स्वदेश को शत्रुओं के आक्रमण से बचाने का प्रयत्न तभी ठीक तरह कर सकते हैं, जब उन्हें सैनिक सेवा के यथेष्ट पद प्राप्त हों। कोई उत्तरदायी पद समुचित शिक्षा के बिना दिया जाना उचित नहीं है। इसलिये उच्चतम सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने का अवसर तथा अधिकार प्रत्येक नागरिक को होना चाहिये। इसमें किसी प्रकार की कानूनी या आर्थिक बाधा नहीं होनी चाहिये।

अस्तु, अब हम यह विचार करते हैं कि नागरिकों को सैनिक-सेवा के लिये बाध्य किया जाना कहां तक उचित है।

सैनिक सेवा--इस विषय में दो मत हैं:--

(१) राज्य, नागरिकों के हितार्थ बहुत से उपयोगी कार्य करता है, तो बदले में नागरिकों को भी आवश्यकता होने पर अपने प्राण देकर भी--उसकी रक्षा के लिये तयार रहना चाहिये। अतः सैनिक-सेवा अनिवार्य होना चाहिये।

(२) किसी मनुष्य की जान लेना अपराध है, और सैनिक-सेवा में यह कार्य करना ही पड़ता है। इसलिये यह बात नागरिकों की इच्छा पर छोड़ देनी चाहिये। अनिवार्य सैनिक-सेवा के बजाय सेना के लिये स्वयं सेवक भरती करना अधिक न्याय संगत है।

आजकल बहुधा राज्यों में राज्य विस्तार, 'सभ्यता' के प्रचार तथा प्रभाव क्षेत्र बनाने आदि के निमित्त अपनी-अपनी सेना के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति हो रही है। ऐसी दशा में

नागरिकों को सेना में बलात् भरती किया जाना सर्वथा अनुचित है। इसका कदापि समर्थन नहीं किया जा सकता। हां, जो राज्य केवल धर्म युद्ध करता है, आत्मरक्षा के लिये, या निस्वार्थ भाव से दूसरों की रक्षा के लिये अपनी सेना रणक्षेत्र में ले जाता है, उसकी सेना में भरती होना नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु इस दशा में भी, हमें राज्य की कानूनी जबरदस्ती पसन्द नहीं, यह नागरिकों की इच्छा पर निर्भर रहना चाहिये।

अच्छा, इस बात का निश्चय कौन करे कि एक युद्ध-धर्म युद्ध है या पाप-युद्ध? राज्य तथा व्यक्ति दोनों इसका विचार कर सकते हैं। यदि किसी व्यक्ति को पूर्णतः यह विश्वास हो जाय कि युद्ध अनुचित और अन्याय-युक्त है, तो उसका कर्तव्य है कि राज्य के पक्ष में लड़ने से इनकार करदे। परन्तु यह आवश्यक है कि जहां कहीं ओर जब कभी युद्ध के न्यायोचित या अन्याययुक्त होने के सम्बन्ध में विचार होता हो, उसमें वे सब नागरिक भाग लें जिन्हें युद्ध के अन्याययुक्त होने की आशंका हो; इससे उन्हें दूसरे पक्ष का मत भली भांति जानने ओर उस पर यथेष्ट विचार करने का अवसर मिलेगा।

स्वदेशोन्नति—स्वदेशोन्नति करना नागरिकों का स्वाभाविक कर्तव्य है। स्वदेशोन्नति कई प्रकार से हो सकती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इसके कई अंग हैं, यथा

सार्वजनिक शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य रक्षा, आजीविका की सुव्यवस्था, उपयोगी आविष्कार, साहित्य-वृद्धि, समाज-सुधार, राजनैतिक विकास आदि। यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई व्यक्ति इन विविध कार्यों सम्बन्धी सभी आन्दोलनों में भाग ले। अतः प्रत्येक नागरिक को चाहिये कि जिस विशेष कार्य में उसकी रुचि और योग्यता हो, उसमें भरसक योग दे तथा शेष सब से सहानुभूति रखे। विशेषतया पराधीन देशों में प्रत्येक नागरिक को देश में होने वाले उन सब न्यायोचित आन्दोलनों से सहानुभूति रखना आवश्यक है जो देश को परतंत्रता के पाश से छुटाने में सहायक हों।

देश भक्ति—स्वदेशोन्नति करने के लिये नागरिकों में देश भक्ति की उच्च भावना होनी चाहिये। जिस भूमि में हमारे पूर्वज पैदा हुए, और जीवन व्यतीत करके अपनी भस्म छोड़ गये, जिसमें हमने जन्म धारण किया, जहां के अन्न पानी तथा अन्य पदार्थों से हमारी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है, जो हमारी भावी सन्तान की जन्म-भूमि एवं कर्म-भूमि होगी उसके प्रति आदर सम्मान और भक्ति भाव न रखना मनुष्यत्व से गिर जाना है।

जो नागरिक अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करते हैं और इस कार्य में विविध कठिनाइयों और बाधाओं से भयभीत नहीं होते, काम, क्रोध, लोभ, मोह से विचलित नहीं होते, यहां तक कि आवश्यकता होने पर देश-हित के लिये

अपने प्राणों को भी न्योछावर करने से नहीं हिचकते, वही सच्चे देश-भक्त हैं। देश-भक्तों के लिये मरने का प्रसंग तो कभी-कभी ही आता है और, बहुत से आदमी क्षणिक जोश में आकर भी मृत्यु का आह्वान कर लेते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में इससे कहीं अधिक कठिन कार्य जीवित रहते हुए, चहुं ओर की घोर विपत्तियों का निरन्तर सामना करते हुए देश-भक्ति का परिचय देना है। इसका प्रसंग प्रति दिन आ सकता है, और इसकी प्रत्येक देश को, और विशेषतया पराधीन देशों को सदैव आवश्यकता होती है।

राज्य के नियमों का पालन—पहिले कहा जा चुका है कि राज्य की स्थापना नागरिकों के सामुहिक हित के लिये की जाती है। इसलिये यह आवश्यक है कि नागरिक राज्य के नियमों का पालन करें और उसके निर्धारित टेक्सों को देते रहें। निस्संदेह, राज्य में नागरिकों के मत के विरुद्ध न तो कोई नियम बनना चाहिये, और न किसी प्रकार का टेक्स ही लगाना चाहिये। हां, नागरिकों में पारस्परिक मत-भेद होने की दशा में, प्रजातंत्र के आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार बहु-मत से काम चलाना होता है। ऐसी दशा में जिन नागरिकों के मत के विरुद्ध निर्णय होता है, उन्हें भी नियम का पालन करना चाहिये। × वे यह कहकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते कि वे उससे सहमत नहीं थे। नियम बनने से पूर्व उन्हें

× जहां तक वह धर्म तथा नीति या उनकी आत्मा के विरुद्ध न हो।

पूर्णाधिकार था कि वे इसके विरुद्ध यथा शक्ति आन्दोलन करते। पर जब उनके नागरिक बन्धुओं ने एक बात--बहुमत ने--तय करदी है, तो उसे मानना ही उनका कर्तव्य है। हां, उस नियम के बन जाने पर भी, वे चाहें तो, उन्हें यह अधिकार है कि उसे संशोधित या परिवर्तित करने का उद्योग करें। परन्तु जब तक वे ऐसा करने में सफल न हों, उन्हें उसका पालन करना चाहिये, नियम भंग करके, दूसरों के लिये भी वैसा ही उदाहरण उपस्थित न करना चाहिये।

राजनैतिक ज्ञान की आवश्यकता--अपने राज्य की विविध प्रकार की विशेष तथा राजनैतिक सेवा या उन्नति करने के लिये यह आवश्यक है कि नागरिकों को समुचित राजनैतिक ज्ञान हो, अतः उन्हें चाहिये कि अपने राज्य की शासन-पद्धति आदि से भली भांति परिचित हों और समय-समय पर उसके नियमों के सम्बन्ध में यह सोचें कि वे कहां तक न्यायोचित तथा उपयोगी हैं, इनमें क्या सुधार या संशोधन आदि होना चाहिये, अन्य देशों में, किस स्थिति में ऐसे नियम बने थे। उनसे क्या लाभ या हानि हुई, और, हमारे देश में उनका क्या प्रभाव होगा, इत्यादि। इन बातों पर सम्यग् रूप से विचार करने के लिये राजनैतिक विषयों के अध्ययन और मनन करने की बड़ी आवश्यकता है। पराधीन देश निवासियों को तो इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये।

नवां परिच्छेद

कर्तव्यों का संघर्ष

प्रत्येक कार्य के आरम्भ करने के पूर्व, चाहे वह कार्य देश के लाभ के लिये हो या अपने वंश के कल्याणार्थ हो, यह निश्चय करलो कि यदि वह कार्य सब मनुष्यों द्वारा और सब के लिये किया जाय तो उसका फल मानव समाज के लिये लाभ-दायक होगा या हानिकारक। यदि तुम्हारा विवेक कहता है कि इससे हानि होगी तो ठहर जाओ, उसे मत करो।

—जौसेफ मेजिनी

प्राक्कथन—संसार में प्रत्येक व्यक्ति के, अपने प्रति, परिवार के प्रति, समाज, देश या राज्य के प्रति तथा ईश्वर के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार के विविध कर्तव्य होते हैं; इनका विवेचन हम पहिले कर आये हैं। हमें चाहिये कि इनका भली-भांति पालन करें। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात का विचार करना है। हमें यह सोचना है कि यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्यों का परस्पर विरोध हो तो क्या करें, अथवा जब एक ही प्रकार के दो कर्तव्य हमारे सामने उपस्थित हों तो किस को

प्रधानता दें, अथवा क्या भिन्न भिन्न स्थिति और रुचि के लोगों का कर्तव्य समान ही होता है, या उसमें देश काल का कुछ लिहाज रखा जाना चाहिये।

अपने प्रति कर्तव्य और पारस्परिक कर्तव्य—कल्पना करो कि एक घर का कोई व्यक्ति बीमार है, रात्रि में उसके पास बैठे जागते रहना आवश्यक है। हमारा अपने प्रति जो कर्तव्य है, उसके अनुसार हमें स्वस्थ रहना, और स्वस्थ रहने के लिये यथेष्ट विश्राम करना चाहिये। परन्तु परिवार के प्रति जो हमारा कर्तव्य है, उसका पालन करने के लिये, हमें रोगी की सेवा करनी चाहिये और इसके वास्ते रात को जागना चाहिये। इस प्रकार दो कर्तव्यों का संघर्ष है, क्या करें. यदि किसी अन्य पुरुष की सहायता लेकर कोई समझौते की सूरत निकल आवे, तो कुछ कहना नहीं है। पर जब ऐसा न हो सके तब किस कर्तव्य को प्रधानता दी जाय? निस्संदेह, हमें यथाशक्ति ऐसा अवसर न आने देना चाहिये कि हम अस्वस्थ होकर दूसरों से सेवा करावें। परन्तु यह भी तो स्मरण रखना होगा कि हमारे स्वास्थ्य और अन्ततः हमारे जीवन का ही उद्देश्य क्या है। क्या हमारी जिन्दगी हमारे ही लिये है, क्या हमारा शरीर और शक्तियां दूसरों के लिये नहीं हैं?

पारिवारिक कर्तव्य और राष्ट्रीय कर्तव्य—अच्छा; देश पर शत्रु आक्रमण कर रहा है। एक घर में एक आदमी,

एक स्त्री और दो बच्चे हैं। आदमी के मन में आता है कि रणक्षेत्र में जाकर राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन करे। परन्तु, जब कि उसकी अनुपस्थिति में उसके आश्रितों का पालन-पोषण ठीक तरह न होने की पूरी आशंका है तो उस आदमी के अपने राष्ट्रीय कर्तव्य पालन करने से क्या उसके पारिवारिक कर्तव्य की अवहेलना न होगी ? यद्यपि मनुष्य स्वभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं की निर्बलताओं को देखते हुए सर्व साधारण से बड़ी आशा नहीं की जा सकती, तथापि क्या राष्ट्र-हित के सम्मुख पारिवारिक हित को त्याग देने का आदर्श रखना उचित नहीं है ?

धार्मिक कर्तव्य और पारिवारिक कर्तव्य—धार्मिक कर्तव्य के पारिवारिक कर्तव्य से विरोध होने के अनेक उदाहरण इतिहास प्रसिद्ध हैं। महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य और दयानन्द के अपने-अपने घर और परिवार को छोड़कर चले जाने से उनके माता-पिता आदि को बहुत कष्ट हुआ, परन्तु यदि ये महानुभाव अपने पारिवारिक कर्तव्य में ही लगे रहते तो इनका वह धार्मिक उद्देश्य कहां पूरा होता जिसके लिये आज भी देश विदेश इनका इतना ऋणी है ? इस दशा में पारिवारिक कर्तव्य की जो अवहेलना की गयी, क्या वह उचित न थी ?

जब कि इन महान् व्यक्तियों के हृदयों में सत्य की जिज्ञासा और धर्म प्रचार का भाव वास्तव में प्रबल था, और

यह सब अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये नहीं था, (इसके लिये तो उन्हें बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े) तो उनके निर्णय को अनुचित कहने का दुस्साहस कौन करेगा?

इससे हमारा यह आशय नहीं कि हम सर्वसाधारण के लिये पारिवारिक कर्तव्य की अवहेलना का आदेश करते हैं; हां, विशेष दशा में, वृहत् जनता के वास्तविक हित, और अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा के पालन की तुलना में हमें उसे अपेक्षाकृत गौण स्थान दे सकते हैं।

राष्ट्रीय कर्तव्य तथा व्यक्तिगत उदारता आदि का प्रश्न—अब पाठक एक ऐतिहासिक घटना पर विचार करें। वीर पृथ्वीराज ने शाहबुद्दीन मोहम्मद गौरी को हरा दिया है, परन्तु गौरी सरदार कपट से क्षमा याचना करता है। भोला-भाला पृथ्वीराज अपने शरणागत की रक्षा करता है। व्यक्तिगत दृष्टि से पृथ्वीराज की दयाशीलता प्रशंसनीय है, परन्तु भारतवर्ष में तो इस गुण की अति हो गयी, इसने राष्ट्र को सदैव के लिये विदेशी चंगुल में फँसा दिया। भारतवासियों ने व्यक्तिगत गुणों की प्राप्ति में पराकाष्ठा करदी, पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार न किया। इसी का यह परिणाम है कि यहां के कितने ही आदमी व्यक्तिगत रूप से संसार भर में मान्य होने पर भी, उनके राष्ट्र की कहीं कुछ पूछ नहीं।

कहा है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत'। दया आदि व्यक्तिगत गुणों का बाहुल्य भी बहुत बुरा होता है। हमें परिस्थिति का

विचार करके ही उनका उपयोग करना चाहिये। राष्ट्रीय कर्तव्य की अवहेलना करने पर वर्षों ही नहीं पीढ़ियों तक उसका कुफल भुगतना होता है। स्वदेश पर आक्रमण करने वालों को दंड देते समय, हमें इस तत्व को विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है।

न्याय की बात—अच्छा; यदि हमारा राष्ट्र गलत रास्ते पर जा रहा हो और किसी अन्य देश से अनुचित व्यवहार या अत्याचार कर रहा हो तो उस दशा में हमारा क्या कर्तव्य है? क्या हम अपनी जन्मभूमि का पक्ष लेकर उसके अनुचित कार्यों का भी समर्थन करें, या मौन धारण करलें, या उसका घोर विरोध करने का साहस करें? क्या इस विषय में हमें श्री० बर्नार्ड हौटन, सर विलियम डिग्बी और महामना एंड्रूज जैसे अंगरेजों का आदर्श सामने रखना उचित न होगा, जिन्होंने इंगलैंड को भारत से अनुचित व्यवहार करते देख, अपने देश के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और यथाशक्ति उसे सन्मार्ग पर लाने का यत्न कर रहे हैं? ऐसा करने से ये महाशय स्वयं अपने देश-बंधुओं की निन्दा के भाजन बने, तथापि न्याय का पक्ष लेकर इन्होंने अपने देश की भी कम सेवा न की, क्योंकि इनके इस व्यवहार के कारण अनेक विचारशीलों के हृदय में इंग्लैंड के लिये जितनी भी श्रद्धा है, वह उस दशा में कदापि न रहती, जब इंग्लैंड में ऐसी खरी बातें

और कटु सत्य कहकर न्याय-पक्ष का समर्थन करने वाले सुपुत्र-रत्न न होते !

एक ही प्रकार के दो कर्तव्य—अब कर्तव्यों के संघर्ष का एक और प्रकार का उदाहरण लें। एक आदमी को दो मित्रों के, भिन्न-भिन्न स्थानों से, बीमार होने की सूचना एक ही साथ मिलती है। वह पहिले कहां जाय? सम्भव है कि एक की बीमारी में इतने दिन रहने की आवश्यकता हो जाय कि फिर दूसरे की सेवा सुश्रुषा करने का अवसर ही न रहे।

ऐसे प्रसंगों के लिये कोई एक नियम सर्व मान्य होना कठिन है। भिन्न भिन्न परिस्थिति के अनुसार पृथक्-पृथक् निर्णय करना होगा। तथापि यह कहा जा सकता है कि जहां किसी आदमी की वास्तव में विशेष आवश्यकता हो, वहां ही उसे जाना चाहिये। यदि एक मित्र धनी है या उसके परिवार के व्यक्ति अथवा उसके परिचित मित्र बहुत-से हैं, तो वहां हमारे जाये बिना भी काम चल जायगा। पर, जिसके पास धन और जन का अभाव है, वहां तो हमें जाना ही चाहिये। सम्भव है पूर्वोक्त रोगी के यहां जाने से हमें अधिक यश और प्रशंसा मिले; परन्तु यह भी तो एक कारण है, कि हमें वहां जाने का विचार कम करना चाहिये।

परिस्थिति-भेद; भारतवर्ष की व्यवस्था—यह तो पहिले कहा ही जा चुका है कि सब देशों में एक समय अथवा एक ही देश में भिन्न-भिन्न समय में नागरिकों के कर्तव्यों का

आदर्श एक ही नहीं रहता। परन्तु इसके अतिरिक्त किसी एक समय में; एक देश की भी भिन्न-भिन्न श्रेणियां या पृथक्-पृथक् अवस्था वाले मनुष्यों का कर्तव्य समान नहीं होता। एक कहावत है कि एक मनुष्य का अमृत दूसरे के लिए विष हो सकता है। इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखना आवश्यक है।

इसी विचार से, भारतीय शास्त्रकारों ने बड़ी बुद्धिमत्ता-पूर्वक, गुण कर्म के अनुसार समाज के व्यक्तियों को ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त करके प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् कर्तव्य निर्धारित कर दिये। उन्होंने बतलाया कि समाज के प्रत्येक अंग का, प्रत्येक वर्ण का, अपने-अपने स्थान पर यथेष्ट महत्व है; अपने अच्छे कर्मों से प्रत्येक उच्च हो सकता है, तो बुरे कर्म वाले को पतित माने जाने की भी व्यवस्था है। इसी प्रकार इन नियम-निर्माताओं ने मनुष्यों की चार अवस्थाओं का विचार करके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-प्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों की व्यवस्था की और प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित करके सर्व साधारण को कर्तव्य पालन करने के विषय में पथ प्रदर्शित किया। इस व्यवस्था ने चिरकाल तक भारतवर्ष का बड़ा हित साधन किया; अब भी यह आदर्श विचारणीय है। इस पर विशेष प्रकाश आगे डाला जायगा।

दसवां परिच्छेद

विश्व-बन्धुत्व

"व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्राप्त कर, या उसका अधिकारी हो मनुष्य अब विकास की सीढ़ियों पर और ऊंचा चढ़ना चाहता है। क्रमशः वह गृहस्थी की परिधि, समाज के घेरे, जाति के मंडल, राष्ट्र के व्यूह व साम्राज्य के महा व्यूह में आया। अब वहां से वह सार्वभौमिक बनना चाहता है। हृदय की संकीर्णता त्याग वह विश्वनागरिक बनना, विश्वात्मा में लीन होना चाहता है। उपर्युक्त कुल सीढ़ियों को लांघकर इस उद्देश्य की सिद्धि करना मानव-समाज का परम धर्म व कर्तव्य है।"

—अभ्युदय

समाज के क्षेत्र सम्बन्धी विकसित विचार—हम पहिले बता चुके हैं कि मनुष्य अकेला रहना नहीं चाहता। वह औरों से मिल-जुल कर समाज का निर्माण करके उसमें रहना चाहता है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इस ओर है। परन्तु समाज की परिधि सब मनुष्यों के लिये किसी एक काल में अथवा एक

मनुष्य के लिये उसकी सारी उम्र भर समान ही नहीं रहती। प्रायः वह क्रमशः बदलती रहती है। पहिले बाल्यावस्था में कोई व्यक्ति अपने माता-पिता को ही जानता है। धीरे-धीरे वह अपने अन्य रिश्तेदारों या संगी-साथियों से परिचय प्राप्त करता है। वह उनमें कुछ अपनेपन का अनुभव करने लगता है। पीछे वह अपने गांव या नगरवालों से भांति-भांति का सम्बन्ध स्थापित करता है। उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दुखी होता है। कालान्तर में वह देश या राज्य को अपनी जन्मभूमि के रूप में देखता है। उसके सब निवासियों को वह स्वदेश-बन्धु कहता, उसकी आत्मा जो पहिले अपने आप को उसके शरीर मात्र से सम्बन्धित समझती थी, अब देश की आत्मा से सम्बन्धित होना चाहती है। वह मनुष्य अब देश के लिये नाना प्रकार के कष्ट उठाने और यहां तक कि प्राण देने में आनन्द का अनुभव करता है। यह आत्मा का विस्तार यहीं तक सीमित होने के लिये बाध्य नहीं है।

संसार भर से सम्बन्ध—यदि मनुष्य के कुछ और अच्छे संस्कार हो जायं, वातावरण आदि की अनुकूलता मिले, तो वह संसार के न केवल मनुष्यों से वरन् प्राणी मात्र को अपना और अपने आप को उनका समझने में अलौकिक सुख का अनुभव करता है। संसार में विशेषतया भारत में समय-समय पर ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने आचार व्यवहार से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श उपस्थित किया है तथा इसका

सर्वसाधारण में प्रचार किया है । भारतीय साहित्य में ऐसे उपदेशों का बाहुल्य ही है । 'सब प्राणियों को अपने जैसा समझो, सब के तुम्हारी-सी जान है, सब के सुख-दुख को अपने सुख-दुख के समान मानो, समदर्शी बनो, भेद-भाव का त्याग करो, इस सृष्टि में छोटे-बड़े, निर्बल-सबल, आदि नाना प्रकार के भेद विद्यमान हैं, इस भेद में अभेद को देखो और अभेद उत्पन्न करने के लिये प्रयत्नशील हो; स्वयं कष्ट उठाकर भी सृष्टि की विशाल आत्मा के लिये सुख के साधन जुटाओ। इत्यादि ।' ये बातें वारम्बार, अनेक विधि से, विविध आचार्यों ने समझायी हैं ।

कर्तव्य का व्यापक क्षेत्र—हम पहिले यह बता आये हैं कि नागरिक का अपने नगर या ग्राम, एवं राज्य के प्रति क्या कर्तव्य है । परन्तु जब हम ऊपर की बातों पर विचार करते हैं तो हमारे कर्तव्यों का क्षेत्र देश या राज्य तक ही परिमित नहीं रहता, वह संसार भर तक विस्तृत मालूम होता है। किसी भी देश, जाति, धर्म या रंग के आदमी हों, वे सब मानव समाज के अंग हैं, मानवता के नाते वे सब एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । सब में एक आत्मा है । हमें हमारे परिवार को या हमारे नगर-निवासियों को कोई ऐसा कार्य वास्तव में सुख-प्रद नहीं हो सकता जो विशाल मानवता के लिये अहितकर हो । इसलिये हमारा ऐसा कोई कार्य कर्तव्य कहे जाने योग्य

नहीं है जो मानव जाति की विशाल आत्मा की दृष्टि से अनिष्ट-कारी हो।

क्या यह आदर्श बहुत ऊँचा है?—कर्तव्य सम्बन्धी यह आदर्श विश्व-व्यापी स्वार्थ की भावना बहुत से आदमियों को बेहद ऊँची प्रतीत होगी। वे इसे अव्यवहारिक कहेंगे। निस्संदेह वर्तमान परिस्थिति में बहुत कम आदमियों ने विशाल मानवता अथवा मनुष्य मात्र की एक विशाल आत्मा की कल्पना की है। संसार छोटे बड़े अनेक राज्यों में विभक्त है। प्रत्येक राज्य दूसरे को हानि पहुँचा कर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में कोई अनौचित्य नहीं समझता। यदि वे विशाल मानवता का विचार करलें तो फिर ऐसा न हो। फिर तो वे दूसरों को कष्ट देना, उन पर आक्रमण करना, अथवा आर्थिक या राजनैतिक कारणों से उनका धन शोषण करना मानवता की ओर फल स्वरूप स्वयं अपनी हानि करना समझें। वह समय कब आवेगा? जब नागरिक अपने कर्तव्यों का क्षेत्र केवल अपने राज्य तक ही परिमित न रखकर, संसार तक विस्तृत समझेंगे? और वे अपने राज्य मात्र के नागरिक न होकर संसार के नाग-रिक बनेंगे? अभी तो अनेक देशों को राज्य के हित का ध्यान रखना भी कुछ ऊँचा आदर्श मालूम होता होगा। उनके विचार संकुचित हैं, वे राज्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करते समय अपने नगर या अपनी जाति के हित को मुख्य समझ लेते हैं।

क्रमशः इस क्षुद्रता पर उदारता की विजय होगी। आदमी अपने-अपने राज्य के हितों का निष्पक्ष रूप से विचार करेंगे। और आशा है धीरे-धीरे उनकी दृष्टि विशाल होगी और वे संसार की नागरिकता, विश्वव्यापी स्वार्थ, लोक संग्रह और 'वसुधैव कुटम्बकम्' के आदर्श को अपनावेंगे।

क्या पशु-पक्षियों के प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है?-अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या परिवार या कुटुम्ब मानी जाने वाली वसुधा में पशु-पक्षियों की भी गणना की जाय? बहुधा अनेक आदमी जो अपने आपको विश्व प्रेमी या विश्व नागरिक कहने या समझने का दावा करते हैं, वे पशु-पक्षियों को अपने विचार-क्षेत्र में आने योग्य नहीं समझते। बहुत से आदमी पशु-पक्षियों का शिकार केवल अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता से प्रेरित होकर ही नहीं करते, वरन् शौक से करते हैं। ये उन्हें उनके परों या चर्म के लोभ वश मारते हैं। अनेक बार तो यह भी नहीं होता, वे जीव-हत्या इसलिये करते हैं कि उन्हें ऐसा करने में एक आनन्द-सा मिलता है। वे जख्मी होते हैं और तड़फड़ा कर प्राण छोड़ते हैं, इससे इनके दिल पर कोई चोट नहीं लगती, वरन् मनोरंजन या दिल बहलाव का साधन प्राप्त होता है। कैसी क्षुद्र और हृदय-विदारक बात है! क्या इन बेचारे पशु-पक्षियों के प्रति हमारा कुछ कर्तव्य नहीं है?

कुछ उदारता—ज्यों-ज्यों मनुष्यों का ज्ञान तथा प्रेम भाव बढ़ता है, वे निस्सन्देह इनके प्रति कुछ कर्तव्य भी

समझने लग जाते हैं। जंगली आदमी पशु-पक्षियों का केवल यही उपयोग समझते हैं कि उन्हें मारकर खा लिया करें और उनके चर्म आदि को ओढ़ने-बिछाने के काम में लावें। जब उन्हें मालूम होता है कि कुछ पशुओं से दूध मिल सकता है तो वे उन्हें मारकर एक बार ही उनका मांस लेने की अपेक्षा उन्हें पाल कर रखना लाभकारी समझते हैं। इसी प्रकार धीरे-धीरे जब वे खेती बाड़ी करने लग जाते हैं और वे जान जाते हैं कि कुछ पशु हमें कृषि कार्य में अपने श्रम से लाभ पहुंचा सकते हैं या सवारी और बोझ ढोने आदि के काम आ सकते हैं, तो वे उन्हें भी मारना छोड़ देते हैं और पाल-कर रखने लगते हैं। इस प्रकार गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊंट, बकरी, भेड़, कुत्ता आदि मनुष्यों के शिकार होने से बचने लग गये। खरगोश आदि कुछ पशु और तोता, मैना, कबूतर आदि कुछ पक्षी अपनी सुन्दर आकृति या मधुर स्वर के कारण मनुष्य की दया के पात्र बन जाते हैं। ऐसे कुछ जीवों की हिंसा अथवा उनके प्रति निर्दयता रोकने के लिये भिन्न राज्यों में कुछ नियम भी बनाये जाते हैं। मांस के लिये मारे जाने वाले पशुओं के विषय में भी जहां तहां, मनुष्यों के स्वास्थ्यादि की दृष्टि से कुछ व्यवस्था की जाती है।

विचार की आवश्यकता—परन्तु इसमें मुख्य कारण मनुष्यों का स्वार्थ है। जिन पशु-पक्षियों से मनुष्य अपना कोई और अधिक हित होता नहीं देखता, उन्हें मांस के लिये

मारने में संकोच नहीं किया जाता। उनके शिकार या वध के लिये प्रायः राज्य की ओर से कुछ मनाही नहीं होती। वरन्, अनेक स्थानों में दूध देने वाले और कृषि आदि करने वाले उपयोगी पशुओं के मारने में नागरिकों को पूरी स्वतंत्रता (?) होती है। आवश्यकता है जिन स्थानों में खाने की पर्याप्त सामग्री मिल सकती है, कम से कम वहां तो लोग शाकाहारी या निरामिष भोजी बनें। निस्सन्देह मनुष्यों के संस्कार जल्दी नहीं बदलते; जिन लोगों को मांस खाने की आदत पड़ गयी है, उनकी यह आदत, चाहे यह उनके लिये हानिकर ही क्यों न हो, सहसा नहीं छूट सकती। परन्तु गम्भीर विचार और दृढ़ प्रयत्न करने से, यह कुछ असम्भव भी नहीं है।

विश्व बन्धुत्व—अस्तु, हम उस उज्ज्वल भविष्य की आशा करते हैं जब नागरिकों की दया का क्षेत्र मनुष्य जाति तक ही परिमित न रहेगा, वरन् प्राणी मात्र पशु-पक्षी आदि भी प्रेम के पात्र बनेंगे। निर्बल छोटे-छोटे जीव मनुष्य को कातर दृष्टि से अपने भक्षक के रूप में न देखकर उसे अपना रक्षक मानेंगे। मनुष्य यह समझ जायंगे कि हमें पशुओं पर जो शासन प्राप्त है, वह इसलिये नहीं कि हम उन्हें दुख दें या मार डालें, वरन् इसलिये कि हम उनकी सेवाओं का उचित उपयोग करें। जिस प्रकार मनुष्य एक दूसरे के सहयोग से लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार पशुओं के सहयोग से लाभ उठाया

जाय। कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जिनसे हम सहयोग नहीं कर सकते, परन्तु उनका वध अभीष्ट नहीं है, इसी प्रकार जिन पशुओं का हम कुछ और उपयोग न कर सकें, उनके भी जीवित रहने में हमें बाधक न बनना चाहिये।

मनुष्य हो, या पशु-पक्षी, सब की माता एक है। पृथ्वी माता से हमारा भरण-पोषण हुआ है। विविध धर्म हमें यही शिक्षा देते हैं कि यह सब सृष्टि परमात्मा की बनायी हुई है। वह सब प्राणियों का परम पिता है, उसे ब्रह्मा कहें या अल्लाह, खुदा या 'गाड' (God) आदि नामों से सम्बोधन करें। इस प्रकार मनुष्य एवं अन्य प्राणी सब परस्पर में भाई बन्धु ठहरे।× परमात्मा से सब का पितृ-भाव और पृथ्वी से मातृ-भाव है, तो मनुष्यों को अन्य प्राणियों से उदारता, प्रेम और दया का व्यवहार करके अपना आदर्श न केवल मनुष्य मात्र से, वरन् प्राणी मात्र से भ्रातृ-भाव (Brother hood of Beings) रखना चाहिये। जब ये बातें होंगी, तभी मनुष्य इस सृष्टि का सर्व श्रेष्ठ प्राणी (Noblest creature of the universe) होगा। प्रिय पाठको क्या वह समय आयेगा? कब आयेगा!

× विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त से भी यह निश्चय हुआ है कि मनुष्य एवं अन्य प्राणियों में घनिष्ठ सम्बन्ध है; सब एक शृंखला में बंधे हैं, एक ही यात्रा के पथिक हैं।

ग्यारहवां परिच्छेद

नागरिक आदर्श

"सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्"

नागरिक भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। किसी नागरिक का अपने लिये कोई काम निश्चित करना, उसकी रुचि, योग्यता, शक्ति या परिस्थिति पर निर्भर होता है। परन्तु वह चाहे जो काम करे, उसे मन से करे, अधिक से अधिक उत्तम रीति से करे और उसमें ऊंचा आदर्श रखकर करे। उदाहरणार्थ हम यहां भिन्न भिन्न प्रकार के कुछ कार्य करने वालों के आदर्शों का विचार करते हैं।

किसानों का आदर्श—इनका आदर्श मनुष्यों (तथा उनके काम आने वाले जीवों) के लिए प्राण धारण करने और भली-भांति जीवन निर्वाह करने योग्य पदार्थ उत्पन्न करना या बनाना है। इन्हें सदैव यह जानते रहने का प्रयत्न करना चाहिये कि उन्नत देशों में कृषि की पद्धतियों में क्या-क्या उन्नति हुई और हो रही है और उससे कहां तक लाभ उठाया जा सकता है? उन्हें अपने रहन-सहन आदि की उन बातों में

भी समुचित सुधार करते रहना चाहिये जो उत्पादन कार्य में बाधक हो।

मजदूरों का आदर्श—आजकल मजदूर मजदूरी (वेतन) के रूप में कीमत लेकर अपनी काम करने की शक्ति निर्धारित समय के लिये पूंजीपतियों के हाथ बेच देते हैं और इस प्रकार उतने समय के लिये वे खरीद और बिक्री की चीज बन जाते हैं। इस व्यवस्था का कुछ विशेष दशाओं में ही समर्थन किया जा सकता है। मजदूरों को यथासम्भव स्वतंत्र कारीगर बनने का यत्न करना चाहिये। जब उन्हें दूसरों की अधीनता में काम करना ही पड़े तो उन्हें पूंजीपतियों की ओर से होने वाला कोई ऐसा व्यवहार सहन न करना चाहिये जिससे उनके आत्म सम्मान को धक्का लगे, या उनके स्वास्थ्य आदि में बाधा पहुँचे। हां, उन्हें अपना कार्य यथाशक्ति परिश्रम से, और ईमानदारी से करना चाहिये।

व्यापारियों और दुकानदारों का आदर्श—इनका आदर्श यह होना चाहिये कि सर्व साधारण को भिन्न-भिन्न आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति में सुविधा हो। वे अपने परिश्रम के फल स्वरूप साधारण मुनाफा लें, यह उचित ही है, परन्तु खरीददारों की अत्यन्त आवश्यकता या विवशता का विचार करके अथवा दुर्भिक्ष की सम्भावना देखकर उनका अपरिमित मन माना, अंधाधुन्द मुनाफा लेना अपने सहयोगी नागरिकों के साथ अन्याय करना है।

बहुत से व्यापारी तो अकेले या मिलकर केवल अपने स्वार्थ को लक्ष में रखकर किसी पदार्थ को एकदम इतनी मात्रा में खरीद कर जमा कर लेते हैं कि बाजार में उसका अभाव होने लगता है तब वे उसमें से थोड़ा-थोड़ा निकाल कर खूब मंहगा बेचते हैं। यह अनुचित है। इसी प्रकार विदेशी सामान, मादक द्रव्य या विलासिता की वस्तुओं का प्रचार भी निन्द्य है।

अनेक दुकानदार अपनी चीजों के दाम निर्धारित करके नहीं रखते, खरीदारों को उनसे ठहराना पड़ता है। चतुर आदमी को एक चीज जिस दाम में मिलती है, भोले-भाले आदमियों को उसके ही बहुत अधिक दाम देने पड़ते हैं। यह वास्तव में दुकानदारी नहीं है, धोखा-धड़ी है। विवेक-शील नागरिक को ऐसा काम भूलकर भी न करना चाहिये।

नीतिज्ञ योद्धा और व्यवस्थापक का आदर्श—इन लोगों को चाहिये कि अपने सामने सदैव स्वाधीनता का आदर्श रखें। बराबर यह सोचते रहें कि उनके किसी काम से, या उनके क्षेत्र में जन साधारण की किसी गति से देश में कोई बात उसको पराधीनता की ओर लेजाने वाली न हो। जहां इसकी आशंका हो, तुरन्त उसका समुचित उपाय करें। अपने ही देश की नहीं, अन्य देशों की स्वाधीनता की भी यथाशक्ति रक्षा करना उनका काम है। मानव जाति तथा मनुष्य स्वभाव की रचना इस प्रकार की है कि जो कोई, चाहे अपने किसी

स्वार्थ से ही क्यों न हो, दूसरों को कष्ट देता है और उन्हें पराधीन बनाने या बने रहने में सहायक होता है वह बिना जाने स्वयं अपने भविष्य को बिगाड़ता है, अज्ञात और परोक्ष रूप से अपने लिये कष्टों और पराधीनता को आमंत्रित करता है।

लेखक, शिक्षक और चिकित्सक आदि का आदर्श—लेखकों, अध्यापकों, सम्पादकों तथा डाक्टरों और वैद्यों आदि का आदर्श नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करना होना चाहिये, स्वास्थ्य शरीर का हो, अथवा मन या आत्मा का। इससे, इस प्रकार के कार्य करने वालों के उत्तरदायित्व की महत्ता स्पष्ट है। इनकी थोड़ी-सी भूल, लापरवाही, स्वार्थ या अनुदारता से बहुत हानि होने की सम्भावना रहती है। अतः इन्हें हर समय अपना कर्तव्य पालन करने के लिए, जो कभी-कभी बहुत कठोर भी प्रतीत हो सकता है, कटिबद्ध तथा सावधान रहना चाहिये। इन्हें अपनी योग्यता या शक्ति से यथासम्भव दूसरों का कल्याण करने की भावना रखनी चाहिये, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन की नहीं।

आविष्कारकों और वैज्ञानिकों आदि का आदर्श—इनका आदर्श होना चाहिये, ज्ञान। ये जनता के हितार्थ नये-नये तत्वों की, नयी-नयी सच्चाइयों की खोज करें। परमात्मा की सृष्टि में ज्ञान का अनन्त भंडार भरा पड़ा है, इतनी वैज्ञानिक उन्नति हो जाने पर भी किसी को यह कहने का साहस

नहीं हो सकता कि अब कुछ और आविष्कार करने की आवश्यकता नहीं रही। न कोई यह ही अभिमान कर सकता है कि इस विषय को मैंने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है, आने वाली पीढ़ियों में कोई इससे आगे नहीं जा सकेगा। धैर्य, दृढ़ता और विनम्रता पूर्वक ही प्रत्येक सत्यान्वेषी को अपना कार्य करते रहना चाहिये।

निस्संदेह वे लोग इनके साथ बड़ा अन्याय करते हैं, जो इनके आविष्कारों की सहायता से दूसरों पर अपनी धाक जमाने और उनका धन शोषण अथवा प्राण-हरण आदि का काम लेते हैं।

कवि, चित्रकार आदि का आदर्श—कवियों, चित्रकारों, गवैयों, मूर्ति-निर्माण करने वालों, और खेल-तमाशे दिखाने वालों का आदर्श मनोरंजन और सौन्दर्य है। परन्तु इसका अनर्थ नहीं किया जाना चाहिये। बेहूदा श्रृंगार रस की गज़लें, स्त्री-पुरुषों की लज्जा जनक क्रीड़ा के दृश्य, नंगी मूर्तियां, सौन्दर्य प्रगट नहीं करतीं, वरन् अपने अपने बनाने वाले के कुत्सित हृदय या बिगड़े हुए दिल की घोषणा करती हैं। ये इस सृष्टि के सर्व श्रेष्ठ कहे जाने वाले प्राणियों मनुष्यों के लिये कलंक हैं। इन्हें शीघ्र धो डालना या बहा डालना चाहिये। वास्तविक सौन्दर्य स्वास्थ्य और स्वाधीनता में है। एक तन्दुरुस्त हट्टा कट्टा बालक कितना सुन्दर मालूम होता है, स्वेच्छापूर्वक कलकल करती हुई पहाड़ी नदी की धारा कितनी

मनमोहक है, देखते ही बनती है। दुष्टों का दमन करने के लिये भुजाओं को फड़का देने वाली और मुर्दों में भी संजीवनी शक्ति भर देने वाली कविता के लिये हम क्या कुछ अर्पण न कर देंगे ? अस्तु, कवियों, चित्रकारों आदि को चाहिये कि सर्व-साधारण के लिये मनोरंजन की सामग्री जुटाते हुए, वास्तविक सौन्दर्य की वृद्धि का निरन्तर ध्यान रखें।

धर्मोपदेशकों का आदर्श—प्रत्येक धर्म के आचार्य और उपदेशक आदि का आदर्श जनता में समानता और भ्रातृ-भाव का प्रचार होना चाहिये। दुख का विषय है कि भिन्न-भिन्न धर्माधिकारी इस विषय के सिद्धान्त को मानते हुए भी अपने अनुयाइयों में इसका समुचित प्रचार नहीं करते। उन्हें चाहिये कि सर्व-साधारण को स्पष्ट रूप से खूब समझाते हुए यह शिक्षा दें कि सब मनुष्य एक परम पिता की सन्तान हैं, सब बराबर हैं, काले गोरे का, हिन्दू और मुसलमान या ईसाई का, एशियाई, अफरीकन या योरपियन आदि का कोई भेद-भाव अनुचित है, अन्याय है, अधर्म है। यदि वे इस प्रकार की शिक्षा या उपदेश दिया करें तो वे नागरिक जीवन को अधिक सुखद और शान्तिदायक बनाने में सहायक हो सकते हैं। अवश्य ही, इसके लिये उन्हें निर्लोभी, निस्वार्थ और निर्भय होना चाहिये। क्या उनसे ऐसा होने की आशा न की जाय ?

उपसंहार—इसी प्रकार अन्य नागरिकों के आदर्शों का विचार किया जा सकता है। निदान प्रत्येक का आदर्श अपनी परिस्थिति के अनुसार आत्म-विकास के साथ, दूसरों की सुख समृद्धि, स्वास्थ्य, ज्ञान-दान, स्वाधीनता, मनोरंजन, भ्रातृ-भाव और समानता-प्रचार आदि में कोई एक या अधिक होना चाहिये। ये सब सद्गुण सत्य, शिव (कल्याण) या सौन्दर्य के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं; इन तीनों में से एक की भी न्यूनता होने से यह सृष्टि अधूरी रह जाती है।× हमें चाहिये कि इन आदर्शों द्वारा इस सृष्टि की पूर्णता में सहायक हों। संसार-यात्रा में सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक, अपने साथ दूसरों की भी उन्नति का लक्ष्य कर सब के लिये हो, तथा सब नागरिक समष्टि रूप से नागरिकों की व्यक्तिगत उन्नति का पथ प्रशस्त करने वाले हों। इस प्रकार प्रत्येक सब के लिये, और सब प्रत्येक के लिये हों और नागरिक शास्त्र का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो।

× परमात्मा को सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) भी कहते हैं।

परिशिष्ट

पहिला परिच्छेद

कर्तव्याकर्तव्य विचार

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"

[भावार्थ—बड़े-बड़े विद्वानों को भी इस विषय में भ्रम हो जाता है कि कौनसा कार्य करने योग्य है और कौनसा नहीं करने योग्य है !]

—भगवद्गीता

हम दिन रात कुछ न कुछ, भला या बुरा, जानकर या अनजाने कार्य करते ही रहते हैं। बिलकुल निष्क्रिय रहना हमारे लिये असम्भव है परन्तु कौनसा कार्य हमारे करने का है और कौनसा नहीं करने का है, अथवा कर्तव्य और अकर्तव्य की पहिचान किस तरह की जाय, यह जानना सहज नहीं है। भिन्न-भिन्न विचारकों ने अपने-अपने मत इस विषय में प्रकट किये हैं। हम यहां उनके सिद्धांतों का कुछ परिचय देकर, यह बतलायेंगे कि कौनसा सिद्धांत कहां तक मान्य है, और किस में क्या न्यूनता है। पहिले हमें विविध कार्यों के मूल कारणों के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना चाहिये।

हमारे कार्यों के कारण—हमारे जितने कार्य स्थूल जगत् में दिखायी देते हैं, वे पहिले सूक्ष्म रूप से हमारे मन में हो चुकते हैं। हम इस बात का प्रायः विचार नहीं करते अथवा जान लेने पर भी भूल जाते हैं। परन्तु तनिक विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि हमारा प्रत्येक कार्य हमारी विविध मानसिक क्रियाओं का परिणाम होता है। उदाहरणवत् मुझे भूख लगी है, तो मुझे भोजन की आवश्यकता प्रतीत होगी। मेरे मन में उसे प्राप्त करने की इच्छा (Will) होगी। यदि भूख कम है तो सम्भव है भोजन प्राप्ति की इच्छा जहां की तहां रुक जाय। परन्तु यदि भूख लगी है तो यह इच्छा बढ़कर कामना (Desire) में परिणत हो जायगी। यदि भोजन को प्राप्त करना मेरी शक्ति से बाहर है या मुझे यह विचार होता है कि भोजन लेने का मुझे अधिकार नहीं है तो इन बाधाओं का विचार करके मैं उस कामना को नियंत्रित करूँगा, उसे दमन कर लूँगा, परन्तु यदि ऐसी बाधा नहीं है; अथवा प्रस्तुत कठिनाइयों का सामना करना, और उन्हें हल करना मैं सम्भव समझता हूँ तो मैं उसकी प्राप्ति का निश्चय या संकल्प (Will) करूँगा और फिर प्रयत्न करके भोजन प्राप्त करूँगा।

प्रत्येक कार्य करने का कोई हेतु निमित्त या उद्देश्य (Motive) होता है। इस उद्देश्य के ही भला-बुरा होने से कोई इच्छा या संकल्प भली या बुरी होती है। इसलिये कोई कार्य कर्तव्य

है या अकर्तव्य इसका विचार करने के लिये यह आवश्यक है, उसके आन्तरिक कारणों पर विचार किया जाय। वास्तव में हमारी भावनाओं के कारण ही कोई कार्य भला या बुरा होता है, पाप और पुण्य मन से होते हैं, न कि शरीर से। वही कार्य शुद्ध मन से किये जाने पर अच्छा कहा जाता है, और बुरे भाव से किये जाने पर बुरा हो सकता है। इस बात के अनेक उदाहरण प्रति दिन हमारे सामने आते रहते हैं। अस्तु, अब हम यह विचार करते हैं कि कोई कार्य कर्तव्य है या अकर्तव्य इसका निर्णय किस प्रकार किया जाय।

कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक—कुछ सज्जनों का मत है कि कर्तव्य सम्बन्धी शंका का निवारण धर्म-ग्रन्थों से किया जाय, दूसरों का मत है कि हमें अपने अन्तःकरण या सदसद्विवेक बुद्धि (Conscience) के अनुसार चलना चाहिये। तीसरा मत यह है ऐसे नियम निश्चित होने चाहिये जो हमारे कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर सकें। हम इन तीनों मतों का क्रमशः विचार करते हैं।

धर्म-ग्रन्थ—इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश में, वहां के धर्म-ग्रन्थों में लोगों के कर्तव्याकर्तव्य का विचार हुआ है। और सम्भव है, विशेष समय और परिस्थिति में, धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित विचार बहुत उचित और हितकर भी प्रमाणित हुए हों। परन्तु समाज परिवर्तनशील है। जो बात किसी खास समय में उसके लिये उपयोगी हुई वही पीछे बहुत अनिष्टकारी

हो सकती है। फिर जब किसी देश में भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी धर्मों के मानने वाले रहते हों तो यह स्वाभाविक ही है कि जब उन पर किसी एक धर्म के सिद्धान्तों का भार लादा जाता है, तो समाज में विकट संघर्ष और असन्तोष तथा अशान्ति हो जाती है। संसार के इतिहास में, धर्म के नाम पर किये गये अत्याचारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हम पहिले कह आये हैं कि नागरिकों को जहां तक वे दूसरों के कार्य में बाधक न हों—धर्म के विषय में स्वतंत्रता रहनी चाहिये, जिस धर्म को उनकी बुद्धि स्वीकार करे, उसे ग्रहण करने में किसी को उनके लिये बाधक न होना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म ग्रन्थ चाहे वे अपने-अपने क्षेत्र में जितने उपयोगी हों, किसी मिश्रित समाज के कर्तव्याकर्तव्य के निर्णायक नहीं हो सकते।

सदसद्विवेक बुद्धि—कभी कभी जब हम कोई बुरा काम करने लगते हैं तो हमारे भीतर से उसका निषेध करने वाली आवाज-सी आती हुई मालूम होती है; हमारा अन्तःकरण या हमारी सदसद्विवेक बुद्धि हमें आदेश करती है कि यह कार्य नहीं करना चाहिये। परन्तु यह बुद्धि न तो सब आदमियों में समान होती है और न किसी एक व्यक्ति में ही सब समय समान रहती है। ज्यों-ज्यों कोई आदमी कुसंगति में रहने आदि के कारण किसी बुरे काम को करने की क्रिया दोहराता है, त्यों-त्यों उसे उसके करने का अभ्यास होता जाता है, यहां

तक कि फिर उसे अपने भीतर से उसका विरोध होता हुआ मालूम ही नहीं होता। चोर, हिंसक और लुटेरों आदि की सदसद्विवेक बुद्धि प्रायः जाती रहती है। इससे स्पष्ट है कि सदसद्विवेक बुद्धि लोगों में भिन्न-भिन्न परिमाण में होती है तथा बदलती रहती है; या कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय करने में पथ-प्रदर्शक नहीं मानी जा सकती।

व्यक्तिगत सुखवाद—कुछ लोगों का कथन है कि हम सब सुख चाहते हैं, दुख से बचते हैं। इसलिये जो कार्य सुख कर हो वही कर्तव्य है और जो दुखदायी हो, वह अकर्तव्य है। इस सुख वाद (Hedonism) के कई भेद हैं। एक श्रेणी के आदमियों का कथन है कि हमें केवल अपना सुख चाहिये, दूसरों के सुख से हमें कुछ प्रयोजन नहीं। इस मत को व्यक्तिगत सुखवाद या स्वार्थवाद कहा जा सकता है।

भारतवर्ष में इस मत का मुख्य प्रचारक चार्वाक हुआ है। उसके अनुयायी उसी के नाम से, चार्वाकी प्रसिद्ध हैं। इन लोगों का सिद्धान्त है कि जब तक जीओ, सुख से जीओ, ऋण करके भी घी पीना चाहिये, मर जाने पर फिर लौटना कहां, अर्थात् जो कुछ है, यहीं, इसी लोक में है, परलोक आदि कुछ नहीं हैं। अपने इस सिद्धान्त के मानने में ये इस तर्क से कुछ हतोत्साह नहीं होते कि संसार में सुख के साथ दुख मिला रहता है, विशुद्ध सुख की प्राप्ति दुर्लभ होती है। इन लोगों का कथन है कि "यह विचार मूर्खों का है कि विषयों

से मिलने वाला सुख, दुख-मिश्रित होने के कारण त्याज्य है। भुसी से ढके हुए होने के कारण उत्तम सफेद चावल को कौन छोड़ देगा ?"

ये लोग स्वार्थ साधन में दूसरों का अनहित करने से परहेज नहीं करना चाहते। इनका विचार है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से अपना भला चाहता है और उसका भला उसके सुख में होता है। इसलिये किसी को दूसरों के हित की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। इस मत के अनुसार व्यवहार हो तो समाज संगठन की कोई सम्भावना ही नहीं रहती, और हम अन्यत्र बता चुके हैं कि मनुष्य के अपने हित के लिये समाज में रहना, समाज संगठन करना अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। समाज संगठन के लिये अपने सुख और स्वार्थ को नियमित तथा परिमित करना होता है। इस प्रकार निरे स्वार्थवाद या सुखवाद से उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस विचार को लक्ष्य में रखकर कुछ सुखवादियों का मत है कि स्वार्थ सिद्ध करने के साथ-साथ मनुष्य को परार्थ भी सिद्ध करते रहना चाहिये। इनके मत से कर्तव्य कर्म वह है जो स्वार्थ और परार्थ दोनों सिद्ध करे। परन्तु बहुधा ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं जब स्वार्थ और परार्थ का, अंधेरे और प्रकाश की भांति, विरोध होता है। दोनों में एक की ही रक्षा हो सकती है, दूसरे का त्याग करना ही होगा। इस तरह

सुखवाद का यह रूप भी कर्तव्याकर्तव्य निर्धारित करने में सफल नहीं होता।

उपयोगितावाद—अब हम यह विचार करते हैं कि उपयोगितावाद से कर्तव्याकर्तव्य का कहां तक निर्णय हो सकता है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त बतलाता है कि हमें अधिकांश लोगों के अधिकतम सुख का ध्यान रखना चाहिये, जिस कार्य के करने से यह बात चारितार्थ होती हो वही कर्तव्य है। यह कथन कुछ अंश में तो ठीक हो सकता है, परन्तु सर्वांश में नहीं। 'सुख' या 'प्रसन्नता' शब्द सापेक्ष हैं, जिस कार्य से मुझे सुख होता है, सम्भव है, उससे दूसरों को महान कष्ट पहुंचे। अतः किस कार्य से अधिकांश लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त होगा, यह जानना नितान्त कठिन है।

पुनः यह तो मान ही लिया जाता है कि ऐसे कार्य बहुत कम होते हैं, जिनसे सब आदमी सुखी हों। प्रायः प्रत्येक कार्य में कुछ लोगों के सुख की उपेक्षा करनी होगी। परन्तु ऐसा क्यों और किस आधार पर किया जाय। यदि किसी विषय में अधिकांश आदमी अन्याय पथ पर हों और अल्प संख्या वालों की इच्छा न्यायानुमोदित हो तो—और यह सर्वथा सम्भव है—तो अल्प संख्या वालों को सुख से वंचित करना कैसे उचित हो सकता है। बहुधा अनेक देशों में अधिकांश आदमी अशिक्षित, अंध विश्वासी, परिवर्तन या सुधार विरोधी होते हैं।

ऐसे आदमियों की इच्छा या उनके सुख को लक्ष्य में रखकर कर्तव्य निर्धारित करने से किसी समाज में प्रगति या उन्नति किस तरह हो सकती है? इससे तो सुधारकों का मार्ग ही बन्द हो जाता है।

उपयोगितावादी इस बात की ओर कम ध्यान देते हैं कि कोई कार्य किस भाव या नीयत से किया गया। यदि कोई कार्य बुरे भाव से भी किया गया हो, परन्तु उसका परिणाम समाज के लिये लाभकारी रहा हो तो उनकी दृष्टि से वह अच्छा ही समझा जायगा, उसे कर्तव्य कार्यों की श्रेणी में गिना जायगा। यह सिद्धान्त अनुचित एवं अहितकर है। हम पहिले बता आये हैं कि वास्तव में किसी कार्य का भला या बुरा, पुण्य या पाप होना इस बात पर निर्भर है कि वह किस भाव से किया गया है।

विकासात्मक सुखवाद—उपयोगितावाद का एक परिवर्तित स्वरूप विकासात्मक सुखवाद है। इस मत के अनुसार समाज परिवर्तनशील है, वह बढ़ता रहता है, इसमें लोगों की रुचि और आवश्यकता बदलती रहती है। मनुष्यों के सुख-दुख सम्बन्धी विचार में भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिये लोगों के कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय करने के लिये उनके सुख-दुख के साथ उनकी बदलती हुई रुचि और आवश्यकताओं का भी समुचित ध्यान रखा जाना चाहिये। इस मत के प्रतिपादक चाहते हैं कि समाज में मनुष्यों की

मानसिक वृत्तियों में विरोध न होकर; सामंजस्य रहे। परन्तु बहुत ही साधारण व्यक्तियों को छोड़कर, सब विचारवान मनुष्यों के मन में समय-समय पर असामंजस्य होता ही है। उसी समय तो उनके कर्तव्याकर्तव्य निर्णय की परीक्षा होती है। बहुधा हमें एक मनोवृत्ति एक ओर जाने का संकेत करती है, और दूसरी इसके विपरीत आदेश करती है। उदाहरणार्थ देश पर आक्रमण होजाने की अवस्था में बहुत से आदमियों के मन में दुविधा हो जाती है कि घर में बैठे रह कर अपनी जान बचावें और पारिवारिक सुख का आनन्द लें, अथवा देश-रक्षा में भाग लेकर, अपनी जान जोखम में डालें। ऐसे समय यह सोचना होता है कि हमारी कौनसी मनोवृत्ति उत्तम है, और कौनसी अधम है। तभी हम अपना कर्तव्य जानकर, उसका पालन कर सकेंगे। विकासात्मक सुखवाद से इस विषय में कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं होता। पुनः वह चाहता है कि समाज अपनी तत्कालीन अवस्था में कुशलता पूर्वक रहे, परन्तु वह उसका अन्तिम लक्ष्य निर्धारित नहीं करता। इसलिये यह मत कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं है।

ऊपर सुखवादियों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मतों का परिचय देते हुए यह बतलाया गया है कि कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिये वे उपयुक्त कसौटियों का काम नहीं दे सकते। अब हम उन लोगों के मत के सम्बन्ध में विचार

करते हैं, जिनका सिद्धान्त, सुखवादियों के विरुद्ध, आत्म विजय है।

आत्म विजय—इस मत के मानने वालों का कथन है कि मनुष्य को चाहिये कि इच्छा या वासना को मारे, मन पर काबू रखे और उस पर विजय प्राप्त करे। सुख-दुख का विचार न कर बुद्धि के अनुकूल चलना चाहिये, मनुष्य का परम लक्ष्य ज्ञान होना चाहिये, उसे सांसारिक ऐश्वर्य और आनन्द का परित्याग कर देना चाहिये। भारतवर्ष में इस मत का खूब प्रचार है। अनेक साधु, सन्यासी आदि यह मानते हैं कि हमें मोक्ष पाने के लिये आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, और शरीर और मन इसमें बाधक हैं, अतः इन्हें व्रत, उपवास आदि के द्वारा नाना प्रकार के कष्ट देना और इन पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। बहुत से आदमी तो इन्द्रिय-निग्रह के लक्ष्य को भूलकर, शरीर-क्षय करने में ही लगे रहना परम कर्तव्य समझते हैं।

यह ठीक है कि वासना हमारे अनेक दुखों का मूल है और मनुष्य जीवन में इन्द्रिय-निग्रह का बड़ा महत्व है। परन्तु सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने और दुष्प्रवृत्तियों को दबाने के लिये इन्द्रिय-निग्रहण एक साधन मात्र है। इसे लक्ष्य मान लेना, और इस विचार से संसार त्याग करना, मौन धारण करना, विरक्त होकर रहना आदि भारी भूल है। इस प्रकार यद्यपि इन्द्रिय निग्रह अथवा आत्म विजय हमारे कर्तव्य-

पालन में सहायक होता है, परन्तु यह हमारे कर्तव्याकर्तव्य का यथेष्ट निर्णायक नहीं हो सकता।

बुद्धि की आवश्यकता—उपयोगितावाद, विकासात्मक सुखवाद, तथा आत्म विजय में बुद्धि की आवश्यकता स्पष्ट है। कौन से कार्य से अधिकांश आदमियों को अधिकतम सुख मिलेगा, कौनसा कार्य लोगों की बदलती हुई रुचि और आवश्यकताओं के अनुसार है, इस विषय में बुद्धि ही हमारी मार्ग-दर्शक होती है। बुद्धि से हमें काम, क्रोध आदि दुष्प्रवृत्तियां या मनोविकार नियंत्रित करना चाहिये, और यथा सम्भव इनका सदुपयोग करना चाहिये। स्मरण रहे कि नियमित मात्रा में काम, क्रोध आदि सांसारिक व्यवहारों के लिये आवश्यक है, हां, इनकी अति न होने पावे, ये सदैव उचित मर्यादा में रहें।

आत्म-ज्ञान—भारतीय शास्त्रकारों ने बतलाया है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा को नहीं जानता वह स्वयं अपना शत्रु है। आत्म ज्ञान से ही हमारा परम हित साधन होता है। जो बातें आत्मा के ज्ञान से उसके पहिचानने में सहायक होती हैं, वे ही हितकर हैं। आत्मा का यथेष्ट ज्ञान होने के लिये, उसका वास्तविक रूप जानने के लिये यह आवश्यक है कि उसका समुचित विकास हो, और हम उसके विस्तार का अनुभव करें।

आत्म-विस्तार—हम में से कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो अपने आपे में तृप्त हो सकता हो, सब अपने विविध कार्यों से अपनी आत्मा का थोड़ा बहुत विस्तार कर रहे हैं, तथा विस्तार करने की भावना का परिचय दे रहे हैं। माता स्वयं भूखी रहकर अपने पुत्र को रोटी देने में एक आनन्द का अनुभव करती है। पुरुष अपनी स्त्री की रक्षा के लिये कष्ट उठाने में हर्षित होता है। यह प्रवृत्ति थोड़े बहुत अंश में असभ्य मनुष्यों में ही नहीं, जंगली और हिंसक जानवरों तक में होती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता और संस्कृति की ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ता है, यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। वह परिवार से आगे बढ़कर ग्राम या नगर वालों से प्रेम करता है, उन्हें अपना भाई-बन्धु मानता है। पीछे वह देश के परिधि तक पहुंच जाता है, सब के दुख-सुख को अपना सुख-दुख मानने लगता है।

मनुष्य समय-समय पर इस परिधि से भी असंतोष प्रकट करता है, वह इस सीमा को नापसन्द करता है, वह राष्ट्रीयता या राज्य के बन्धन से भी मुक्त होने का अभिलाषी पाया जाता है। उसकी आत्मा मनुष्य मात्र की, विशाल मानव जनता की, आत्मा से सम्बन्धित होना चाहती है।

कर्तव्य-सम्बन्धी आदर्श—अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करने में हमें क्या सिद्धान्त रखना चाहिये। जिन कार्यों में भेद भाव न रखकर,

समता का आदर्श रखा जाता है, जिनमें हम अपनी आत्मा की विशालता का अनुभव करते हैं, जिनमें स्वार्थ परार्थ का प्रश्न नहीं उठता, वे ही कर्तव्य हैं। इसके विपरीत जिन कार्यों से भेद-भाव की उत्पत्ति होती है, अपने पराये का विचार होता है; अपना सुख-दुख मुख्य समझा जाता है, जिनमें आत्मा विस्तार की भावना न रखकर, उसे परिवार या नगर आदि के संकुचित क्षेत्र में परिमित रखा जाता है, वे अकर्तव्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमारा अपने परिवार या नगर आदि के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है, नहीं-नहीं जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, हमारा तो स्वयं अपने प्रति भी है, हां, हमें औरों के हित को न भूलना चाहिये।

इस आदर्श की विशेषता—इस आदर्श में उन सब गुणों का समावेश हो जाता है, जो पूर्व वर्णित आदर्शों में बताये जाते हैं। साथ ही, इसमें वैसी कोई आपत्ति नहीं है जो उनमें होती हैं। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थवाद का तो प्रश्न ही नहीं रहता जो सामाजिक संगठन का नाशक है। उपयोगितावाद में जो अल्प संरक्षक लोगों के साथ अन्याय होता है, वह बात भी इसमें नहीं है। विकासात्मक सुखवाद में जो अस्थिरता का भाव है, वह भी इसमें नहीं है। पुनः यह आदर्श किसी मन-मानी कल्पना के आधार पर नहीं है, यह तर्क संगत ओर बुद्धि-ग्राह्य है। इसमें ज्ञान आर क्रिया का विरोध नहीं पाया जाता है। यह आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति के

अनुकूल है। यह वैज्ञानिक पद्धति के भी अनुसार है। इस प्रकार यह आदर्श पूर्व वर्णित सब आदर्शों से श्रेष्ठ है।

निष्काम कर्म—इस आदर्श के अनुसार काम करने वालों के मन में अपने कर्मों के फलाफल का विचार नहीं उठता। जब हम सब में एक आत्मा का अनुभव करेंगे तो सब आदमी अपने ही हो जाते हैं, दूसरा या पराया कोई नहीं रहता। फिर हम अपने कार्यों के लिये धन्यवाद या पुरस्कार किस से और क्यों पाने की आशा करें? इस दशा में यह स्वाभाविक ही है कि हमारा प्रत्येक कार्य निष्काम भाव से हो, और हमारा जीवन, केवल हमारे ही लिये न होकर, सब के हित के लिये हो। बस, हम कोई भी कार्य करें, वह इस लिये न करें कि हमें उसका प्रतिफल रुपये के रूप में हो, या यश के रूप में हो या पदोन्नति आदि के रूप में हो। प्रतिफल की आशा से किया हुआ कार्य, निष्काम कार्य नहीं, वह तो सौदागिरी है। हमें अपने कार्य को अपना कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व समझकर करना चाहिये। कोई निन्दा करे या स्तुति, सुख मिले या दुख; हमें अपने निर्दिष्ट कर्तव्य-पथ से विमुख नहीं होना चाहिये।

देश-काल का विचार—यद्यपि कर्तव्य-सम्बन्धी आदर्श वही है, जो ऊपर बताया जा चुका है, परन्तु समाज की परिस्थिति और आवश्यकतायें समय-समय पर बदलती रहती हैं; इसलिये नागरिकों का सर्वदा एक-सा कर्तव्य नहीं हो सकता।

रामायण काल में, या महाभारत काल में, किसी अवसर पर एक व्यक्ति का यहां जो कर्तव्य उचित समझा गया हो, यह आवश्यक नहीं है कि आधुनिक काल में भी वैसी समस्या उपस्थित हो जाने पर किसी व्यक्ति का उसी प्रकार का कार्य करना उचित माना जाय। यह तो हुई एक ही देश की बात। इसी प्रकार भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति भी एक ही समय में भिन्न-भिन्न होती हैं। पाश्चात्य देशों में स्त्री-पुरुषों का जो व्यवहार समाज में प्रतिष्ठा पूर्वक देखा जाता है, हमारे यहां उसे स्वेच्छाचार कहा जायगा और निन्द्य समझा जाता है।

इस बात से कर्तव्याकर्तव्य निर्णय सम्बन्धी पूर्वोक्त आदर्श की अवहेलना नहीं होती, वरन् पुष्टि ही होती है। जहां जिस समय लोगों में जितना ज्ञान, या आत्म-विकास होता है, उसी के अनुसार वहां कर्तव्य का परिमाण रहता है।

दूसरा परिच्छेद

कर्तव्य सम्बन्धी भारतीय विचार

इस परिच्छेद में हम संक्षेप में यह बताना चाहते हैं कि भारतीय नियम निर्माताओं ने कर्तव्य-सम्बन्धी क्या विचार स्थिर किया है, उनका आदर्श क्या रहा है। इसके लिये हमें यह भी जान लेना होगा कि यहां समाज-संगठन की शैली तथा उसका आधार क्या रखा गया है।

भिन्न-भिन्न देशों के आदर्शों में भेद—किसी देश की सामाजिक अवस्था हमेशा समान नहीं रहती। वह समय-समय पर बदलती रहती है, परन्तु उसके मौलिक-सिद्धान्तों में सहसा अन्तर नहीं आता। इस प्रकार किसी देश का आदर्श प्रायः चिरकाल तक वही बना रहता है। हां, भिन्न-भिन्न देशों का सामाजिक (एवं अन्य प्रकार का) आदर्श समान नहीं होता। कुछ बातों में तो बहुत ही भिन्नता पायी जाती है। इस प्रकार भारतवर्ष का आदर्श कुछ विशेष प्रकार रहा है, और पाश्चात्य देशों का कुछ और तरह का।

पाश्चात्य देशों का आदर्श—उदाहरणार्थ पाश्चात्य देशों में लोगों की वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना ऐसी चरमसीमा को पहुंच गयी है कि भारतवर्ष के बहुत से आदमियों को यह बड़ी विचित्र मालूम होती है। वहां विवाह-बंधन एक पक्ष (पुरुष या स्त्री) की इच्छा से जब चाहे टूट सकता है। स्त्री का पति को, या पति का स्त्री को तलाक देना बुरा नहीं माना जाता। कभी-कभी तो एक मनुष्य या स्त्री अपने जीवन में कई-कई बार तलाक दे चुकती है। पुनः वहां यह साधारण बात मानी जाती है कि पिता पुत्र के घर आये तो जाते समय उसके भोजन व्यय का बिल दे दिया जाय। उन देशों की सामुहिक अवस्था में यह विशेषता पायी जाती है कि यद्यपि वहां भारतवर्ष की भांति जाति-पांति का भेद नहीं माना जाता, फिर भी निर्धनों की प्रायः बहुत कम कदर होती है, धनवान उनसे सामाजिक सम्बन्ध करना पसन्द नहीं करते।

भारतीय आदर्श—इसके विरुद्ध भारतवर्ष में स्त्री-पति का सम्बन्ध क्षणिक या अस्थायी नहीं समझा जाता, वह आजीवन रहता है, वह उस समय तक रहता है जब कि मृत्यु उनमें से एक को दूसरे से जुदा नहीं कर देती, और कुछ दशाओं में एक के मरने पर भी दूसरा उसी की स्मृति बनाये रखता है, किसी और को अपने जीवन का साथी नहीं बनाता। अवश्य है, इस आदर्श का कहीं-कहीं दुरुपयोग

होता है, विशेषतया बालविवाह आदि के कारण इससे हानि पहुंचती है। परन्तु हमें यहां इस विषय पर विशेष विचार न कर, इसकी योरपीय आदर्श से भिन्नता दिखाना मात्र अभीष्ट है। यहां रामायण में चित्रित रघुकुल परिवार का आदर्श है।

अपने पुत्र के वियोग में प्राण देने वाले दशरथ जैसे प्रेमी पिता, पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके चौदह वर्ष बनवास में व्यतीत करने वाले रामचन्द्र जैसे पुत्र, राजमहिषि और राजपुत्री होकर भी पति के साथ बनवास के तरह-तरह के संकट सहने वाली सीता जैसी अर्द्धांगिनी, प्राप्त राज्य को मिट्टी के ढेले के समान ठुकरा देने वाले भरत और भाई-भौजाई की सेवा में अपने कष्टों को विश्राम समझने वाले लक्ष्मण जैसे भाई का उदाहरण संसार में, एक ही गृहस्थ में क्वचित ही मिलता है। भारतवर्ष को यह आदर्श उपस्थित करने का अभिमान है। और अपनी गयी-गुजरी दशा में भी इसे आदर्श मानने वाले भारतीय एक निराली छटा दिखा रहे हैं।

भौतिक सभ्यतावालों के लिये यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि भारतवर्ष में अनेक धनहीन, 'अर्धनग्न' साधु-महात्मा दरिद्रता का जीवन विताते हुए भी समाज में यथेष्ट आदर-मान पाते हैं, यहां धन की वैसी पूजा नहीं होती जैसी पाश्चात्य देशों में होती है। अनेक आदमी रूखी-सूखी रोटी खाकर 'संतोषं परमं सुखम्' मानते हैं। वे दिन-रात

धन या रुपये पैसे की हाय-हाय नहीं करते रहते। निस्सन्देह आधुनिक काल में ब्राह्मण अब्राह्मण के झगड़े, द्विजातियों के शूद्रों पर अत्याचार या जमींदारों और किसानों के विरोध की बात देखने और सुनने में आती है, परन्तु इनकी तह में आदर्श की हीनता नहीं है, वरन् अन्य शक्तियाँ काम कर रही हैं, जिनका विचार करना हमारे प्रस्तुत विषय से बाहर की बात है। हमारा अभिप्रायः यहां केवल सामाजिक आदर्श बतलाने का था, और वह हमने पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया।

समाज को शरीर की उपमा; चार वर्ण—यों तो अन्य देशों के लेखक भी कभी समाज के भिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाने के लिये, उसे मानव शरीर की उपमा देते हैं, परन्तु भारतवर्ष में तो यह उपमा बहुत ही अद्भुत और पूर्ण रूप से दी गई है। शरीर में हम क्या देखते हैं। शरिर के सब से ऊपर सिर है जिसको ब्राह्मण कहा जाता है। उसके पश्चात् बाहु हैं जिनकी तुलना क्षत्री से की गई है। आगे चलकर उरु हैं जिसको वैश्य बतलाया गया है और सब के बाद पद हैं जिनको शूद्र बतलाया जाता है। शरीर के इन चारों भागों में से कोई भी निरर्थक नहीं है। सिर के पृथक् होने से कोई भी जीवित नहीं रह सकता। सिर में जो मस्तिष्क है उसके विक्षिप्त होने से सारी शक्तियां नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार जिस आदमी के बाहु निकम्मे हो जाँय वह अपनी भी

रक्षा नहीं कर सकता, यहां तक कि भोजन करना तक दुर्लभ है। जंघाओं के अभाव से मनुष्य जीवित ही मरा हुआ समझना चाहिये। इसी प्रकार से पद के कट जाने पर भी मनुष्य संकट में आ जाता है। जिन नसों के द्वारा खून मस्तिष्क में पहुंचता है उन्हीं नसों के द्वारा बाहुओं और जंघाओं में भी जीवन-शक्ति का संचार होता है। कैसी सुन्दर उपमा है--भला जिस देश का इतना ऊंचा, इतना गम्भीर आदर्श हो वहां ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र यदि लड़ें तो क्यों? क्या कभी ऐसा हो सकता है कि हाथ सिर से शिकायत करे कि सारा रुधिर तुम्हीं ले जाते हो? क्या जंघाओं तथा पैरों का सिर तथा बाहुओं से कुछ द्वेष हो सकता है? समाज का प्रत्येक अंग अपना पृथक्-पृथक् कर्तव्य करे परन्तु सब एक दूसरे सहयोगी और सहायक रहें।

चार वर्णों के कर्तव्य—मनु महाराज ने इन चारों वर्णों के कर्तव्य इस प्रकार से बतलाये हैं:—

स्वयं पढ़ना और अन्यों को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और अन्यों को यज्ञ करने की प्रेरणा करना, स्वयं दान देना और अन्यों को दान देने की प्रेरणा करना- यह संक्षेप से ब्राह्मणों के कर्म हैं। बस जो यह काम करें और कर सकते हों उनको ब्राह्मण कहना चाहिये। उनकी रक्षा, उनके भरण-पोषण उनकी सेवा का भार स्वयं उनके ऊपर नहीं है। यह कार्य क्षत्री, वैश्य और शूद्र का है।

न्यायानुकूल प्रजा की रक्षा करना, श्रेष्ठों का सत्कार, दुष्टों का तिरस्कार करना, दान देना, यज्ञ करना, शास्त्रों का पढ़ना, विषय-भोग में न फँसकर सदा ब्रह्मचर्य्य पूर्वक अपने शरीर और आत्मा को बलवान बनाना यह संक्षेप से क्षत्रियों का कर्तव्य है।

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना और शास्त्रों का पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार करना, कृषि करना आदि वैश्यों के काम हैं।

शूद्र का केवल एक ही कार्य बतलाया गया है और वह यह है कि उपरोक्त तीनों वर्णों के मनुष्यों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों की एकाग्रचित्त और बिना पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष के सेवा करना।

कैसा सुन्दर श्रम-विभाजन है—जो मस्तिष्क का काम करते हैं उन्हें अपनी रक्षा और धन तथा सेवा की चिन्ता ही नहीं है—जो क्षत्रिय का काम करें उन्हें ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रों से पूरी सहायता मिले। व्यापारी अपनी रक्षा की चिन्ता से मुक्त हैं। शूद्र अपनी रक्षा, धनोपार्जनादि से बेखटके हैं।

वर्ण-विभाग स्वाभाविक है—जिस प्रकार ब्राह्मण सब अन्य जातियों के पंथ-प्रदर्शक हैं उसी प्रकार क्षत्री भी समस्त जातियों के रक्षक हैं—वैश्य सब अन्य जातियों को धन से सहायता करते हैं। शूद्र सब जातियों की सेवा का भार अपने ऊपर लिए हुए हैं। कैसा प्राकृतिक, कैसा स्वाभाविक श्रम

-विभाजन है, न किसी को किसी से द्वेष हो सकता है, न किसी का किसी से पक्षपात हो सकता है। इस समय यहां वर्ण-विभाग का स्वरूप बहुत विकृत हो गया है। परस्पर में प्रेम और सहयोग करने वाले चार वर्णों की जगह एक दूसरे से प्रायः विरोध भाव रखने वाली अनेक जाति-उपजातियां हो गयी हैं। इसे देखकर अनेक देशी तथा विदेशी सज्जन वर्ण-व्यवस्था की निन्दा करते नहीं अघाते। परन्तु स्मरण रहे कि वर्तमान जाति-भेद चाहे जैसा दूषित हो, इसका मूल स्वरूप स्वाभाविक है। यह किसी न किसी रूप में सर्वत्र पाया जाता है। जिन्हें यहां ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र माना गया है, वे अन्य देशों में (क) आलिम, 'पादरी' (Clergy), (ख) आमिल, सरदार (Nobles), (ग) ताजिर, व्यापारी (Merchant) और (घ) मजदूर या श्रमजीव (Labourer) कहते हैं। बात तत्वतः एक ही है।

अपनी इस स्वाभाविक व्यवस्था के कारण ही भारतवर्ष चिरकाल तक अन्य देशों का शिक्षक और पथ प्रदर्शक बना रहा; और अब इतनी सामाजिक उथल-पुथल के होते हुए भी इसकी सभ्यता अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भांति विलुप्त नहीं हुई, वरन् हिमाचल की भांति सिर ऊँचा किये हुए है। यद्यपि यहां की पवित्र गंगा में बहुत से गंदे पनाले मिल गये हैं, गंगोत्तरी का शुद्ध जल स्वास्थ्य प्रद तथा रोग-नाशक है। भारतीय आदर्श से संसार का बड़ा हित-साधन हो सकता है। यह

आवश्यक नहीं है कि इसको पूर्णतया प्राचीन रूप में रखा जाय, देश-काल के अनुसार इसमें परिवर्तन किया जा सकता है, और किया जाना चाहिये।

इस आदर्श की एक विशेषता यह है कि समाज में प्रतिद्वंद्विता नहीं रहती, सब को धन की तृष्णा नहीं सताती। ब्राह्मणों को आदर-सम्मान, क्षत्रियों को प्रभुत्व, आधिपत्य, राज्याधिकार और शूद्रों को आवश्यकतानुसार अन्न-वस्त्रादि एवं मनोरंजन के साधन मिल जायं तो उन्हें वैश्यों के अभीष्ट लक्ष्मी को छीनने की चिन्ता न रहे। देश के सब मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति का भाव हो।

वैयक्तिक जीवन, चार आश्रम—जिस प्रकार सामुहिक जीवन के लिये, भारतवर्ष में वर्ण, धर्म की स्थापना की गयी है, उसी प्रकार यहां के शास्त्रकारों ने वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की है कि मनुष्य की आयु के चार विभाग किये जांय। इन्हें आश्रम कहते हैं। मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानकर, प्रत्येक आश्रम के लिये पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया गया है।*

---

* इस समय मनुष्यों की आयु प्रायः कम होती है, परन्तु प्राकृतिक नियमों का पालन करने, आश्रम धर्म का यथेष्ट ध्यान रखने तथा स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने से वह सौ वर्ष एवं इससे अधिक की हो सकती है।

आश्रमों के कर्तव्य—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है। यह मानव-जीवन रूपी विशाल-भवन की नींव है, अथवा जीवन-संग्राम में प्रवेश करने की तैयारी है। जितनी अधिक सुव्यवस्था इसकी होगी, उतना ही भावी-जीवन उत्तम होगा। भारतीय नियम-निर्माताओं के आदेशानुसार प्रत्येक व्यक्ति को इस आश्रम में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शारीरिक और मानसिक बल प्राप्त करना चाहिये। शहरों के दूषित वातावरण से दूर रहते हुए विद्याभ्यास करना चाहिये। इस आश्रम के लिये साधारणतः पुरुषों के लिये पच्चीस और स्त्रियों के लिये सोलह वर्ष का समय नियत किया है, परन्तु यह कम से कम है, जो व्यक्ति चाहे उनके लिये और अधिक समय तक भी ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने की व्यवस्था है।

इस प्रकार यदि इस आश्रम का समुचित रूप से पालन हो तो बाल-विवाह आदि कुरीतियाँ स्वयं हट जांय, जिनके कारण समाज में आज दिन हजारों और लाखों विधवायें अत्यन्त कष्ट-मय जीवन व्यतीत करती हैं, तथा बच्चों की मृत्यु-संख्या बेहद बढ़ी हुई है।

भारतीय शास्त्रकारों का आदेश है कि यथेष्ट शारीरिक क्षमता और मानसिक योग्यता प्राप्त कर चुकने पर ही किसी व्यक्ति को दूसरे अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिये। विवाहित जीवन मानों रण-क्षेत्र की मध्य-भूमि है, जहां अ-कुशल अशिक्षित, या रोगी आदि का निर्वाह नहीं हो सकता।

यहां पदे-पदे कठोर परीक्षायें होती हैं। इसका उद्देश्य सुयोग्य संतान उत्पन्न करना तथा अन्य आश्रम वालों की समुचित सेवा-सुश्रूषा करना है। प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये तथा अपने आश्रितों के लिये आजीविका उपार्जन करते हुए अपने परिवार को एक आदर्श परिवार बनाने और सांसारिक कर्तव्य का पालन करना चाहिये।

आश्रम-धर्म के अनुसार, किसी व्यक्ति को गृहस्थ में ही सारी उमर व्यतीत नहीं करनी होती। एक निर्धारित (साधारणतः पचास वर्ष की) आयु में, स्वेच्छा से सांसारिक सम्बन्ध घटाकर, अपने स्वाध्याय और आत्म-चिंतन का विशेष अवकाश देने के लिये, यहां वानप्रस्थ आश्रम की व्यवस्था की गयी है। वानप्रस्थी संसार के विविध विषयों में बहुत अनुभवी होते हैं और वे अपनी योग्यता से देश और समाज का बड़ा हित-साधन कर सकते हैं।

मनुष्य के लिये मृत्यु अनिवार्य है, वह टल नहीं सकती। 'सब ठाट पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बनजारा' कहावत के अनुसार जब विविध सुख-साधनों को एक दिन छोड़ना अवश्य ही पड़ेगा, तो फिर रोते चिल्लाते बेबशी की हालत क्यों की जाय? शांति-पूर्वक पूर्ण तैयारी कर चुकने पर, इस संसार को स्वयं छोड़ने के लिये उद्यत रहने में एक निराली शान है। इस विचार से भारतीय शास्त्रकार सन्यास-आश्रम की व्यवस्था करते हैं। जब समाज में निरंतर एक खासी संख्य

में मनुष्य और स्त्रियाँ सन्यासी होकर, आध्यात्मिक चिंतन करने के अतिरिक्त, सर्वसाधारण को उपदेश देने और निर्भयता-पूर्वक सन्मार्ग सुझाने में प्रवृत्त हों तो समाज का कल्याण होते रहना अवश्यम्भावी है। ये सज्जन स्वयं-सेवक बनकर समाजोन्नति के ऐसे कार्य अनायास कर सकते हैं, जिनके करने में गृहस्थी बहुधा विफल हो जाते हैं।

गुण कर्म की प्रधानता—प्राचीन आदर्श के अनुसार यहां गुण कर्म की प्रधानता रखी गयी थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने उद्योग से नीचे से ऊपर उठने का मार्ग प्रशस्त था। साथ ही, ऊपर वाले को, नीचे गिराये जाने के भय से, अपने कर्तव्य पालन में सावधान होना पड़ता था। वर्तमान-काल में यहां जाति भेद जन्म से माना जाने लगा है। इससे, ऊंची समझी जाने वाली जातियों के आदमियों को मुफ्त में मान प्रतिष्ठा मिल जाती है। दूसरों में अपनी योग्यता बढ़ाने के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं होता। वे जानते हैं कि हम चाहे जैसे गुणवान हों, फिर भी समाज में हमारा पद और स्थान नीचा ही रहना है। यही कारण है कि यहां शूद्रों की दशा चिन्तनीय है। वे अपने वंश के कारण 'अछूत' तक माने जाते हैं। प्राचीन आदर्श में ऐसे ऊंच-नीच या छुआछूत के भाव को स्थान न था। शूद्र शिल्पी और व्यवसायी होकर वैश्य बन सकते थे; बलवान, शूरवीर और साहसी होकर क्षत्रिय बन सकते थे, तथा ज्ञानवान विद्वान् होकर ब्राह्मण बन

सकते थे। इसलिये दूसरों की दृष्टि में वे सदैव नीचे नहीं माने जाते थे। सब उनसे सहृदयता और सहानुभूति का भाव रखते थे।

आजकल अन्य देशों में भी कुछ-कुछ भारतीय जाति-भेद का रूपान्तर-सा देखने में आता है। कहने को, जाति-भेद न होते हुए भी, वहां श्रेणी-विभाग का आधार बहुत कुछ जन्म या वंश से माना जाता है। पादरियों की संतान की, प्रकृति और आचार विचार पादरियों के योग्य न होने पर भी, पादरियों में ही गणना की जाती है। ऊंचे समझे जाने वाले खानदानों के लड़के-लड़कियों के विवाह साधारण वंश वालों से नहीं किये जाते। इस प्रकार वहां भी गुण कर्म बहुधा भुला दिया जाता है।

साधारण और विशेष धर्म का विचार—भारतवर्ष धर्म प्रधान देश रहा है। और यहां धर्म का अर्थ किसी मत या मज़हब से न होकर, कर्तव्यों से होता है। भारतीय विचारकों के अनुसार धर्म का सम्बन्ध मनुष्यों के कार्यों से ही नहीं, उसके विचारों से भी होता है, और इसका उद्देश्य उसके मन और विचारों को शुद्ध करना है। इसी उदार भाव के कारण हिन्दू-नियम-निर्म्माता मनु ने धर्म के दस लक्षण धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना (अहिंसा) बतलाये

हैं ।×

ये बातें सब देशों के और सब जातियों या श्रेणियों के आदमियों के लिये साधारणतः कल्याणकारी हैं। इसलिये ये साधारण धर्म के अन्तर्गत मानी गयी हैं। परन्तु अवस्था भेद का ध्यान भी रखा जाना आवश्यक है। कोई बात सभी अवस्थाओं में समानरूप से हितकर नहीं होती। इस बात को सम्यग् रूप से लक्ष्य में रखकर भारतीय शास्त्रकारों ने विशेष धर्म की–वर्णाश्रम धर्म की–व्यवस्था की है। जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। भारतवर्ष के कर्तव्य-सम्बन्धी आदर्श की यह विशेषता बड़ी महत्वपूर्ण है कि इसमें मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव-गुण और कर्म, आयु और अवस्था का यथेष्ट विचार रखा गया है। जो आदमी जिस कार्य में रुचि और योग्यता रखता है, वह उसी कार्य को करे। इससे उसकी यथेष्ट उन्नति होगी, और वह समाज की उन्नति में समुचित भाग ले सकेगा।

समाज आदर्श—समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वत्व पाने का अधिकारी होना चाहिये, साथ ही उसे दूसरे के स्वत्व से कुछ सरोकार न होना चाहिये। भारतीय साहित्य में इस आदर्श का बड़ा सुन्दर विवेचन है। यजुर्वेद का आदेश है कि 'परमेश्वर ने जो तुम्हें दिया है, उसका उपयोग करो,

× मानव समाज और संसार के लिये क्या ही अच्छा हो यदि धर्म-प्रचारक समाज में फूट और कलह का बीज न बोकर उपर्युक्त सद्गुणों के प्रचार में अपनी शक्ति का सदुपयोग किया करें।

दूसरों के धन का लालच मत करो।' यह उपदेश देखने में छोटा-सा होने पर भी अत्यन्त कल्याणकारी है। इस पर चला जाय तो इस अर्थ प्रधान जगत के सब झगड़े दूर हो जांय। श्रमजीवियों और मजदूरों के, किसानों और जमींदारों के, नौकरों और मालिकों के ही नहीं, बहुधा भाई-भाई और पिता-पुत्र, तथा स्त्री-पुरुष में धन सम्बन्धी प्रश्नों पर ही भयंकर कलह होता है, उस सब को शान्त करने के लिये उपर्युक्त उपदेश एक रामबाण औषधि है।

पुनः भारतीय आदर्श 'प्रत्येक दूसरों के लिये' की शिक्षा देकर मनुष्यों को और भी आगे बढ़ने का आदेश करता है, यह समाज संगठन का दृढ आधार ठहराता है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया और नदी का जल अपने लिये न होकर दूसरों के लिये होते हैं, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन परोपकार और 'लोक-संग्रह' के लिये होना चाहिये। हम दूसरों के सुख से सुखी और दुख से दुखी होना सीखें; और इस प्रकार उनके सुख को बढ़ाने और दुख को निवारण करने में प्रयत्नशील हों तो यह संसार कितना सुन्दर और मनोहर हो जाय।

सहायक पुस्तकें

श्री० एफ. आर. वर्टस	Citizenship
,, एच. जे. लस्की	Grammer of Politics
,, मेजिनी	Duties of Man
,, जे. एस. ले	Citizenship
,, आर. के. मुकर्जी	Civics
,, ब्राइस	Modern Democracy
,, गुलाबराय	कर्तव्य-शास्त्र
,, सत्य मूर्ति	प्रजा के अधिकार
,, मातासेवक पाठक	राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त
,, सत्यदेव	मनुष्य के अधिकार
,, सुखसम्पत्तिराय भंडारी	राजनीति-विज्ञान

स्वार्थ, मर्यादा की पुरानी फाइलें तथा विविध पत्र पत्रिकायें।